क्रियात्मक योगाभ्यास

आवश्यक विधि-विधान एवं मार्गदर्शन सहित

लेखक : ज्ञानेश्वरार्यः M.A. दर्शनाचार्य

प्रकाशक :

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्यवन, रोजड, पो. सागपुर, जि. साबरकांठा, गुजरात.

※ (ओ३म्) ※

क्रियात्मक योगाभ्यास

(आवश्यक विधि-विधानों और निर्देशों सहित)

ज्ञानेश्वरार्य

एम.ए., दर्शनाचार्य

-: प्रकाशक :-

दर्शन-योग-महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़, सागपुर,

जिला-साबरकांठा, गुजरात, पिन-३८३३०७

दूरभाष-(०२७७४) ७७२१७ (०२७७०), ८७४१७, ८७६१७

वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) ८७५४८

E-mail : darshanyog@icenet.net
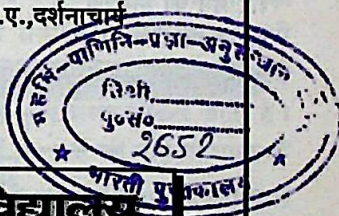
अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
१. अवतरणिका	३
२. योगाभ्यासी के लिए आवश्यक निर्देश	५
३. योगाभ्यास से लाभ	८
४. योगाभ्यास के लिए तैयारी	१०
५. ईश्वर प्रणिधान (विधि-निर्देश)	१५
६. प्राणायाम (विधि-निर्देश)	१९
७. साध्य, साधक, साधन का चिंतन	२२
८. जप (विधि-निर्देश)	२७
९. वैदिक सन्ध्या-शब्दार्थ एवं भावार्थ	३२
१०. योग के अङ्ग (नाम परिभाषा व फल)	५०
११. योगाभ्यास के काल में नींद आने के कारण	५७
१२. सच्चे योगी के लक्षण	५८
१३. मन का नियंत्रण	६०
१४. ऋषियों का सन्देश	६३

संस्करण - षष्ठ जून-२००२ लागत व्यय : ५-०० रुपये

मुख्य वितरक :

आर्य रणसिंह यादव
द्वारा- डॉ. सदगुणा आर्या
सम्यक्, गांधीग्राम, जूनागढ-३६२००१.

प्राप्ति स्थान :

१. आर्य समाज मन्दिर, महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद.

२. ऋषि उद्यान, आनासागर, पुष्कर रोड, अजमेर (राजस्थान)

३. आर्य समाज, थर्मल, कॉलोनी, पानीपत, हरियाणा.

४. आर्य समाज बडौदा, गांधीधाम, राजकोट, भरुच, जूनागढ, पोरबंदर, ध्रांगध्रा, मोरबी, जामनगर आदि समाजों में भी मिलती है।

अवतरणिका
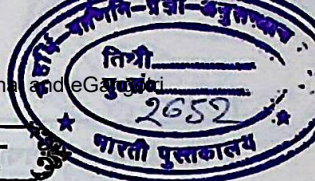
प्रतिदिन हजारों की संख्या में वैदिक धर्मी सन्ध्या(=ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना) के लिए समय लगाते होंगे । आसन पर बैठकर, आँखें बन्द करके प्राणायाम करते होंगे, जप करते होंगे और मन्त्रों का उच्चारण भी करते होंगे । किन्तु प्रायः ऐसा देखने सुनने को मिलता है कि सन्ध्या में कोई सफलता नहीं मिलती । ईश्वर के साथ सम्बन्ध जुड़कर ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, शान्ति, प्रसन्नता आदि गुणों की प्राप्ति नहीं हो पाती है । सन्ध्या काल में २-४ मिनट के लिए भी मन रुक नहीं पाता । विभिन्न विषयों से सम्बन्धित क्या-क्यों, कब-कैसे, ऐसा-वैसा आदि की विचार तरंगें एक के बाद दूसरी के बाद तीसरी, सतत चलती ही रहती हैं, रुकती नहीं ।

लोग ऐसा कहते हैं कि "दिन भर के सांसारिक आवश्यक कार्यों को करते हुए तो हम इंतनी वृत्तियाँ नहीं उठाते, किन्तु सारे सांसारिक कार्यों को छोड़कर जब ईश्वर का ध्यान करने बैठते हैं तब ये ढ़ेर सारी वृत्तियाँ पता नहीं कहाँ से आ जाती हैं । विभिन्न प्रकार के संकल्प विकल्प अथवा नयी योजनाओं की उधेड़-बुन अथवा वर्षों पुरानी स्मृतियों को उठाकर, उनसे सम्बधित घटनाओं का चलचित्र देखने में ही सारा समय निकल जाता है । अनेक बार तो आधे घण्टे में सन्ध्या के मन्त्रों का पाठ भी नहीं हो पाता ।"

इसका परिणाम यह होता है कि किसी प्रकार की कोई उपलब्धि न होती देखकर, साधक कालान्तर में सन्ध्या करनी ही छोड़ देता है या मात्र ५-१० मिनिट में वेद-मन्त्रों करके सन्ध्या की खाना पूर्ति कर लेता है । जब भी सन्ध्या के विषय में चर्चा चलती है या कोई किसी से पूछता है तो प्रायः यही उत्तर मिलता है कि "सन्ध्या में हमारा मन नहीं लगता, हमारा मन तो अन्य सांसारिक विषयों में चला जाता है, हमारे रोकने पर भी यह नहीं रुकता, हमें तो ऐसा लगता है कि शरीर में आत्मा के समान ही एक दूसरा चेतन तत्त्व मन है जो सन्ध्या काल में हमारे न चाहते हुए भी विभिन्न विचारों को उठाता रहता है" । किन्तु यह सब भ्रान्ति ही है कि मन चेतन

है और अपने आप विचारों को उठाता है । वास्तव में आत्मा की इच्छा व प्रेरणा के बिना, मन किसी भी विचार को स्वयं नहीं उठाता, यही प्रामाणिक सिद्धान्त है ।

ईश्वरोपासना में सफलता न मिलने के अनेक कारण हैं । जैसे कि-जीवन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति न समझना, योगाभ्यास से होने वाले लाभों को न जानना, सन्ध्या करने से पूर्व मानसिक तैयारी न करना, प्राणायाम की ठीक विधि न जानना, साध्य (=ईश्वर), साधक (=जीव) तथा साधन (=संसार) के यथार्थ स्वरूप को न जानना, जपक्रिया को विधिवत् न करना, ईश्वर प्रणिधान न करना, सन्ध्या के मन्त्रों का शब्दार्थ तथा भावार्थ न जानना, व्यवहार काल में यम-नियमों का ठीक प्रकार से पालन न करना आदि । इन उपर्युक्त बाधक कारणों को जानकर इनको दूर कर दिया जाये और ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम उत्पन्न करके सन्ध्या की जाये तो यह निश्चित है कि उपासना में अवश्य ही सफलता मिलती है । प्रभु से विशेष ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, निष्कामता, दया परोपकार आदि गुणों की प्राप्ति होती है ।

पूज्य गुरुदेव श्रीयुत स्वामी सत्यपति जी महाराज से, विगत अनेक वर्षों में , जो बातें सन्ध्या से सम्बधित सुनने-समझने को मिली, और जिनको प्रयोग में लाने से लाभ भी हुआ, उन्हीं बातों को इस छोटी सी पुस्तिका में, संक्षेप में संकलित करने का प्रयास किया है । आशा है जिज्ञासु योगाभ्यासी साधक इसे पढ़, समझकर और क्रियारूप में लाकर लाभ उठायेंगे । पुस्तक के सम्पादन में डॉ. कमलेशकुमार शास्त्री, (२४-बी, वीरनगर सोसायटी, नवा वाडज रोड, अमदाबाद-१३) ने व्यस्त होते हुए भी, जो सहयोग प्रदान किया है, इसके लिए मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ ।

ज्ञानेश्वरार्यः
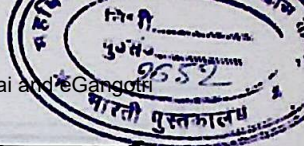
योगाभ्यासी के लिए आवश्यक निर्देश

(१) "मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर को प्राप्त करना तथा अन्यों को प्राप्त करवाना है।" यह बात योग जिज्ञासु को अपने मन में निश्चय से बिठा लेनी चाहिये। जैसा कि वेदादि सत्य शास्त्रों में लिखा है -

(१) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्.....(यजु० ३१-१८)

(२) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केन० उप०२-५)

(३) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृह० २-४-५)

(२) योगाभ्यासी को यम नियमों का पालन मन, वचन और शरीर से श्रद्धापूर्वक करना चाहिए।

(३) साधक स्वयं अनुशासन में रहे और अनुशासन बनाये रखने में सहयोग देवे।

(४) योगाभ्यासी को महर्षि व्यासजी के अनुसार यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि "नाऽतपस्विनो योगः सिध्यति" अर्थात् बिना तपस्या के योग सिद्धि नहीं होती।

(५) योग साधक को वेद, दर्शन, उपनिषद्, स्मृति आदि ग्रन्थों के शब्द-प्रमाण पर पूर्ण विश्वास रखकर चलना चाहिये। इन आप्त वचनों पर संशय न करे।

(६) योगाभ्यासी को चाहिए कि व्यवहार में वह इतना सावधान रहे कि किसी भी प्रकार की त्रुटि (दोष) होने ही न दे, यदि कभी हो भी जावे

तो असको वह शीघ्र स्वीकार करे, उसका प्रायश्चित्त करे (= दण्ड लेवे) और भविष्य में न होवे ऐसा प्रयास करे।

(७) योगाभ्यासी वाणी का प्रयोग बहुत ही सावधानी से करे अर्थात् आवश्यक होने पर ही बोले, सत्य ही बोले, सत्य भी मधुर भाषा में बोले और वह भी हितकारी होना चाहिये।

(८) योगाभ्यासी को अपने सम्मान की इच्छा कदापि नहीं करनी चाहिये और अपमान होने पर उसको सहन करना चाहिये, (दुःखी नहीं होना चाहिये)।

(९) योग साधक को अपना प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्राप्ति (साक्षात्कार) के लिये करना चाहिये, न कि सांसारिक सुख और सुख के साधनों की प्राप्ति के लिये।

(१०) योगाभ्यासी ब्रह्मविद्या (= योगविद्या) को श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार की पद्धति से प्राप्त करने हेतु पूर्ण प्रयास करे।

(११) साधक को चाहिये कि वह योग सम्बन्धी विषयों का ही अध्ययन करे, उन पढ़े हुए विषयों पर ही चर्चा, विचारादि करे। अन्य सांसारिक विषयों से सम्बन्धि चर्चा न करे।

(१२) योगाभ्यासी को चाहिये कि वह ब्रह्म-विद्या के महत्व को समझे और इसकी प्राप्ति के लिये स्वयं को पात्र बनाये, जैसे कि जनक आदि राजा थे। राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से निम्न बात कही -

"सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि माञ्चापि सह दास्यायेति"

(बृ० उप० ४, ४-२३)

"हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको अपना सम्पूर्ण विदेह राज्य भेंट करता हूँ और स्वयं को भी आपके आदेश का पालन करने के लिये समर्पित करता हूँ।"

(१३) योगाभ्यासी को चाहिये कि स्वयं कष्ट उठा कर (अपनी सुख सुविधाओं का परित्याग करके) भी दूसरों को सुख पहुंचाने का प्रयास करे।

(१४) योगाभ्यासी दूसरों के गुणों को ही देखे, दोषों को नहीं, और अपने दोषों को देखे, गुणों को नहीं।

(१५) भोतिक वस्तुओं (भोजन, वस्त्र, मकान, यानादि) का प्रयोग शरीर की रक्षा के लिये ही करे न कि सुख-प्राप्ति के लिये।

(१६) योग साधक को चाहिये कि आवश्यकता न होने पर भोजन न करे तथा आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर भोजनादि का अधिक प्रयोग न करे अर्थात अपनी रसना आदि इन्द्रियों पर संयम रखे।

(१७) ईश्वर की शीघ्र प्राप्ति हेतु योगाभ्यासी को चाहिये कि हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय (दुःख, दुःख का कारण, सुख, सुख का उपाय) इन पदार्थों को अच्छी प्रकार समझने का प्रयास करे।

(१८) योगाभ्यासी के मन में योग सम्बन्धी विभिन्न शंकाओ के उपस्थित होने पर, किसी योगनिष्ठ गुरु के पास जाकर, उनसे आज्ञा लेकर, प्रेम पूर्वक, जिज्ञासा भाव से शंकाओं का समाधान करना चाहिए, किन्तु किसी के साथ विवादादि नहीं करना चाहिए।
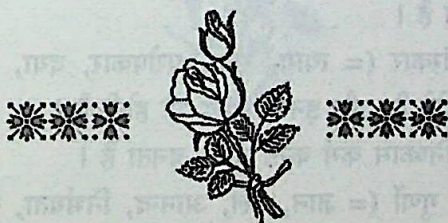
योगाभ्यास से लाभ

'योगाभ्यास' किसी एक क्रिया-विशेष का नाम नहीं है, अपितु इस शब्द से योगदर्शन में बताये गये योग के आठों अङ्गों (यम-नियम आदि) का ग्रहण करना चाहिए। जो व्यक्ति इन योग के आठों अङ्गों के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानकर, अत्यन्त श्रद्धा, तपस्या पूर्वक लम्बे काल तक इनका पालन करता है, उसको निम्नलिखित लाभ होते हैं-

१. बुद्धि का विकास होता है, जिससे व्यक्ति बहुत कठिन और सूक्ष्म विषयों को भी, सरलता व शीघ्रता से समझ लेता है।
२. स्मरण शक्ति बढ़ती है, जिससे व्यक्ति देखे, सुने, पढ़े विषयों को, जब चाहे तब उपस्थित कर लेता है।
३. कार्य करने में एकाग्रता बढ़ती है, जिससे कार्य अच्छा सम्पन्न होता है।
४. शरीर, मन, इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है।
५. अपने दोषों और बुरे संस्कारों (= काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष आदि) का ज्ञान होता है ओर इनका नाश भी होता है।
६. अच्छे संस्कार (= त्याग, सेवा, परोपकार, दया, दान आदि) जागृत होते हैं, और इनकी वृद्धि भी होती है।
७. साधक निष्काम कर्म करने वाला बनता है।
८. ईश्वरीय गुणों (= ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, सत्य, न्याय, सन्तोष आदि) की प्राप्ति होती है।
९. साधक जानबुझ कर झूठ, छल, कपट, अन्याय आदि पाप कर्मों

को नहीं करता और इन पापों के दुःखरूप फल से बच जाता है ।

१०. शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को सहन करने की शक्ति बढ़ती है ।

११. मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म-भूत, जगत् का कारण प्रकृति आदि सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान होता है ।

१२. "मैं कौन हूँ" मुझे क्या करना चाहिए इत्यादि आत्मा विषयक प्रश्नों का समाधान हो जाता है (= आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है) ।

१३. ईश्वर की महानता का ज्ञान होता है, जिससे ईश्वर के प्रति अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, आकर्षण उत्पन्न होता है ।

१४. ईश्वर का प्रत्यक्ष (= साक्षात्कार) होता है, फलस्वरूप उससे विशेष ज्ञान, बल, आनन्द आदि की प्राप्ति होती है ।

१५. संसार के सब दुःखों से छूटकर, आत्मा, ईश्वर के नित्य आनन्द को भोगता है (= मोक्ष को प्राप्त कर लेता है) ।

योगाभ्यास के लिए तैयारी

ईश्वर की उपासना करने वाले "योगाभ्यासी" को प्रातःकाल सूर्योदय से कम से कम घण्टे पूर्व तो अवश्य ही उठ जाना चाहिए। साधक मन में 'ओ३म्' का स्मरण करता हुआ बिस्तर से उठ जाये। हाथ मुंह धोकर उषापान करे (.....पानी पीये)। पानी पीकर "प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे.....।। " इत्यादि प्रातःकालीन पाँच वेदमन्त्रों का अर्थ सहित पाठ करे।

पुनः शौच, दातुन, व्यायाम तथा स्नान करे। तत्पश्चात् किसी शान्त-एकान्त-शुद्ध स्थान पर स्वच्छ–मोटे आसन पर ध्यान के लिए बैठे और ध्यानात्मक आसनों (पद्मासन आदि) में से, कोई एक आसन सरलता पूर्वक (.....बिना कष्ट के) लगाये। समस्त शारीरिक चेष्टाओं को बन्द करके स्थिरता पूर्वक सीधा होकर बैठे अर्थात् सिर, गर्दन तथा कमर, तीनों सीधे हों, यह ध्यान रखे।

आसन पर बैठने के पश्चात् "मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ?" अथवा मुझे यह मनुष्य शरीर क्यों मिला है ? इस विषय पर इस प्रकार से विचार करे... समस्त सांसारिक दुःखों से छूटकर ईश्वर ऋषि-कृत ग्रन्थों में वर्णित इस लक्ष्य को योगाभ्यासी अपने मन में दोहराये और इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ से योगाभ्यास करे।

लक्ष्य पर विचार करके, यह निश्चय करे कि इस आसन पर मैं ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए बैठा हूँ। अब एक घण्टे तक मैं ईश्वर की ही स्तुति-प्रार्थना-उपासना करूँगा, अन्य किसी सांसारिक विषय का ध्यान नहीं करूँगा।

योगाभ्यासी साधक के लिए यह अति आवश्यक है कि उपासना काल में वह अपने समस्त सांसारिक सम्बन्धों का भुला दे, जिनका सम्बन्ध शरीर के कारण है अर्थात् इस समय पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा मित्र-सम्बन्धी आदि समस्त प्राणियों का और भूमि-भवन, धन-सम्पत्ति आदि समस्त जड़ वस्तुओं का भी स्मरण न करे।

इसके अतिरिक्त दूसरा कार्य यह भी आवश्यक है कि 'शरीर को आत्मा मानने विषयक' अपने मिथ्याज्ञान को दूर कर दे, जैसे कि अपने को मैं 'पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ', 'मैं जवान हूँ', 'मैं बूढ़ा हूँ', 'मैं काला हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मै निर्बल हूँ', 'मैं बलवान् हूँ', 'मैं सुंदर हूँ', 'मैं कुरूप हूँ', 'मै लम्बा हूँ', 'मैं नाटा हूँ', इत्यादि गुणों वाला मानना, क्योंकि ये सब नित्य आत्मा के गुण न होकर अनित्य, विकारी, परिवर्तनशील जड़ शरीर के गुण हैं।

सांसारिक एवं शारीरिक सम्बन्धों को भुलाकर साधक अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाये क्योंकि ऐसा किये बिना वह आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

इसके पश्चात् योगाभ्यासी 'स्व-स्वामी सम्बन्ध' को समझ कर

हटाने का प्रयास करे अर्थात् यह निश्चय पूर्वक मन में बिठा ले कि मेरे पास यह शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित जितने भी विद्या, घन, बल, प्रतिष्ठा, योग्यता तथा अन्य गुण विद्यमान हैं, इन सब का आदिमूल परमेश्वर ही है, मैं नहीं हूँ। क्योंकि मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न इतना बल कि मैं इन शरीरादि समस्त प्राकृतिक पदार्थों को बना सकूं और इन की रक्षा कर सकूं। ईश्वर ने महती दया करके, ये सब पदार्थ, मुझे भोग तथा अपवर्ग की प्राप्ति करने के लिए साधन के रूप में दिये हैं। मैं तो इन सब साधनों का प्रयोक्ता मात्र हूँ. स्वामी तो वास्तव में ईश्वर ही है।

स्वस्वामी – सम्बन्ध को ज्ञानपूर्वक नष्ट करने के पश्चात् योगाभ्यासी 'व्याप्य-व्यापक' सम्बन्ध को समझे। यह सारा संसार व्याप्य है, और ईश्वर व्यापक है अर्थात् ऐसा कोई कण नहीं है जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो, जैसे अग्नि की भट्ठी में लोहे के गोले को रख देने पर, गोले में अग्नि सर्वत्र व्यापक हो जाती है, इसी प्रकार से ईश्वर संसार की प्रत्येक वस्तु में समाया हुआ है। इसी व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध के माध्यम से, ईश्वर के साथ अपनी निकटता को और अधिक अनुभव करने के लिए ऐसा भी समझना चाहिए कि मैं ईश्वर में डूबा हुआ हूँ, ईश्वर में ही बैठता हूँ, ईश्वर में ही खाता हूँ, ईश्वर में ही पीता हूँ, अनादिकाल से मैं ईश्वर में ही रहता आया हूँ और अनन्त काल तक ईश्वर में ही रहुँगा। मैं ईश्वर से कभी भी अलग नहीं हो सकता।

व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध की स्थिति बना लेने के पश्चात् योगाभ्यासी 'मन व इन्द्रियों के जड़त्व' को समझने का प्रयास करे। इस विषय पर निम्न प्रकार से निर्णय करे- "मेरा मन एक यन्त्र के समान जड़ वस्तु है, यह अपने आप किसी विषय का चिन्तन नहीं करता। मैं चेतन जीवात्मा जिस किसी बाह्य या आन्तरिक विषय को जानने की इच्छा करके मन को प्रेरित करता हूँ, उसी विषय का ज्ञान मेरा मन मुझे करा देता है। जैसे फोटोग्राफर की इच्छा के बिना कैमरे में अपने आप चित्र नहीं उतरते, वैसे ही मेरी इच्छा तथा प्रेरणा के बिना मेरा मन भी किसी वस्तु का ज्ञान मुझे नहीं कराता। इसलिए मैं इस जड़ मन को, आत्मिकज्ञान से अपने नियंत्रण में रखता हुआ एक घण्टे तक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में नहीं लगाऊंगा।"

ऊपर लिखित सज्जा करने के पश्चात् अब योगाभ्यासी ईश्वर की शीघ्र तथा सरलता से अनुभूति करने के लिए 'ईश्वर प्रणिधान' की स्थिति का सम्पादन करे। "सर्वव्यापक-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-न्यायकारी-निराकार ईश्वर मेरी आत्मा में स्थित है। वह मेरे प्रत्येक शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक कर्मों को प्रतिक्षण देख, सुन, जान रहा है। मैं कोई भी कर्म उस से छिपकर नहीं कर सकता।"

जैसे दूरदर्शन प्रसारण कक्ष (T.V. Telecasting Centre) में बैठा उद्घोषक (Announcer) यह जानता है कि 'चाहे मुझे दिखाई न दे, किन्तु लाखों लोगों की आँखे तथा कान मुझे देख व सुन रहे हैं' ऐसा विचार कर वह कोई भी अनुचित क्रिया नहीं करता तथा अभद्र

वाक्य नहीं बोलता। वैसे ही योगाभ्यासी अपने मन में माने कि 'ईश्वर मेरे पास माता-पिता के समान उपस्थित है और अत्यन्त प्रेमपूर्वक, पवित्र हृदय से की गई, मेरी स्तुति-प्रार्थना को सुन रहा है। मेरी प्रार्थना सुनकर वह परमदयामय, कृपा करके, अवश्य ही मेरी मनोकामना पूरी करेगा, इसमें किञ्चत् मात्र भी संशय नहीं है।'

साधक को सन्ध्योपासना करने से पूर्व उपर्युक्त प्रकार से सज़्जा अवश्य ही कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसे उपासना में सफलता मिल सके और ईश्वर से परम आनन्द और ज्ञान की प्राप्ति कर सके।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर-प्रणिधान की परिभाषा-

ईश्वर में भक्ति विशेष-अर्थात् ईश्वर से अधिक प्रिय किसी को नहीं मानना, ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल ही आचरण करते हुए, प्रत्येक कार्य को ईश्वर को समर्पित करना और उसका लौकिक फल = (धन, सम्मान आदि) न चाहना 'ईश्वर-प्रणिधान' कहलाता है ।

ईश्वर-प्रणिधान का फल-

ईश्वर को अपने अन्दर-बाहर उपस्थित मानकर तथा 'ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है' एसा समझकर सम्पूर्ण व्यवहार करने वाले व्यक्ति की समाधि शीघ्र ही लग जाती है ।

ईश्वर-प्रणिधान की विधि व अन्य निर्देश -

(१) जिस ईश्वर के समर्पित होना है, उसके स्वरूप (=गुण, कर्म स्वभाव) को अच्छी प्रकार समझना चाहिए, जिससे ईश्वर के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति या संशय न रहे । वेद, दर्शन तथा उपनिषद आदि वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय-श्रवण इसमें बहुत सहायक होता है ।

(२) "मेरे पास जो शरीर, धन, बल, विद्या आदि साधन विद्यमान हैं, इन सब का निर्माता, पांलक, रक्षक-स्वामी ईश्वर है, मैं नहीं हूँ । मैं सब का प्रयोक्ता मात्र हूँ" । इस विषय पर चिन्तन करके निश्चय करना चाहिए ।

(३) "ईश्वर प्रदत्त इन शरीर, धन आदि सब साधनों का प्रयोग, मैं ईश्वर की आज्ञा के अनुरूप (=वेद तथा ऋषिकृत ग्रन्थों के निर्देशानुसार) ही करुंगा, स्वेच्छा से नहीं" ऐसा भी संकल्प करना चाहिए ।

(४) शरीर, बुद्धि, बल, धनादि समस्त साधनों का प्रयाग ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए, लौकिक उद्देश्य-धन, मान, प्रतिष्ठा, यश आदि की प्राप्ति के लिए नहीं करना चाहिए ।

(५) शरीर, वाणी तथा मन से कार्य को करते हुए मन में यह, भावना बनानी चाहिए कि ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी होने के कारण मेरी प्रत्येक क्रिया को जान रहा हैं । मैं कभी भी, कहीं भी, किशी भी क्रिया को उससे छिपा नहीं सकता, जब ईश्वर जान ही रहा है , तो क्यों न मैं अपनी क्रियाओं को उसके सामने रखकर करूँ ? ऐसा विचार कर साधक स्वयं को तथा अपनी समस्त क्रियाओं को, ईश्वर को समर्पित कर देवे ।

(६) ईश्वर प्रणिधान करने वाले योगाभ्यासी को मन सें ऐसा विचार भी बनाना चाहिए कि "मैं ईश्वर में डूबा हुआ हूँ और मुझ में भी ईश्वर है-अर्थात् मैं उसमें हूँ और वह मुझ में है ।"

(७) ईश्वर प्रणिधान करने वाले साधक को अपने आपको अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनाये रखना चाहिए अर्थात् मन इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण करके आवश्यकता अनुसार ही लौकिक व्यवहारों को करना चाहिए ।

(८) ईश्वर - प्रणिधान करने वाला साधक अपने व्यवहारों को राग-द्वेष आदि दोषों से रहित=निष्काम भावना से करे । किसी कार्य में सफलता न मिलने पर या बाधा उपस्थित होने पर मन में शान्ति, प्रसन्नता, सन्तुष्टि की स्थिति बनाये रखे । मन में किसी भी प्रकार का क्षोभ, चंचलता, शोक, चिन्ता आदि उत्पन्न न करे । इस हेतु उसे घोर तपस्या करनी पड़ती है ।

(९) बार बार चिन्तन करके योगाभ्यासी को "संसार के समस्त उत्पन्न पदार्थ अनित्य हैं तथा इन पदार्थों से मिलनेवाला सुख क्षणिक व दुःखमिश्रित है" ऐसा निश्चय करना चाहिए । ऐसा करने से उसके मन में इन पदार्थों के प्रति तृष्णा नष्ट हो जाती है और ईश्वर के प्रति प्रेम, श्रद्धा व रुचि बढ़ जाती है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति ईश्वर - प्रणिधान भी अच्छे स्तर का कर सकता है । क्यों कि वैराग्य के बिना ईश्वर में प्रेम नहीं होता । और ईश्वर के प्रति प्रेम हुवे बिना ईश्वर - प्रणिधान नहीं बनता ।

(१०) प्रारंभ में नये साधक को शान्त एकान्त स्थान पर आसन लगाकर, आँखें बन्द करके ईश्वर - प्रणिधान करने का अभ्यास करना चाहिए । अभ्यास होने पर वह आँखें खुली रखकर और भीड़ भरे स्थान में भी ईश्वर - प्रणिधान करने में सफल हो जाता है ।

(११) साधक को दिनभर लौकिक क्रिया - व्यवहारों को करते हुए भी साथ-साथ ईश्वर - प्रणिधान की स्थिति बनाये रखनी चाहिए । इसके लिए पहले स्थूल कार्यों यथा-भ्रमण, व्यायाम, स्थान, भोजन

करना, बर्तन, कपड़े, मकान धोना आदि को करते हुए ईश्वर-प्रणिधान करने का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि इन कार्यों को करते हुए अपेक्षाकृत कम एकाग्रता आवश्यकता रहती है।

(१२) जब स्थूल कार्यों में ईश्वर - प्रणिधान अच्छी प्रकार से बनाये रखने का अभ्यास हो जाता है, तब फिर सूक्ष्म कार्यों में, यथा पढ़ना-पढ़ाना, व्याख्यान देना इत्यादि को करते हुए भी ईश्वर - प्रणिधान का अभ्यास करना चाहिए।

(१३) किसी कार्य को करते हुए साथ-साथ ईश्वर - प्रणिधान नहीं किया जा सके, तो उस कार्य को करने से पूर्व मन ही मन ईश्वर का विचार करके निम्न वाक्यों से उसकी आज्ञा लेनी चाहिए "हे परमेश्वर। मैं अमुक कार्य को प्रारंभ करने जा रहा हूँ। इस कार्य की सिद्धि के लिए मैं आपकी सहायता चाहता हूँ। मुझे सामर्थ्य, उत्साह व प्रेरणा प्रदान करके मेरी रक्षा करें, जिससे मैं कोई अनिष्ट चिन्तन न करूँ।" जब कार्य सम्पन्न हो जावे तब पुनः ईश्वर का स्मरण करके उसका इन शब्दों में धन्यवाद करे कि हे प्रभो ! आपकी कृपा तथा सहायता से मैंने यह कार्य पूरा किया है, मै आपका धन्यवाद करता हूँ। मुझे इस कार्य का कोई लौकिक फल (= धन, सम्मान आदि) नहीं चाहिए। यह मैंने केवल कर्तव्य भावना से किया है।

उपर्युक्त निर्देश के अनुसार प्रयास करने पर योगाभ्यासी को 'ईश्वर - प्रणिधान' विषय में अवश्य ही सफलता मिलती है।

प्राणायाम

अब प्राणायाम के विषय में कुछ आवश्यक निर्देश किया जाता है।

१. धुआँ, धूल, दुर्गन्ध से रहित शान्त, एकान्त, शुद्ध, खुले स्थान में प्राणायाम करना चाहिए।

२. भोजन के पच जाने पर (भोजन करने के समये से ३-४ घण्टे पश्चात्) ही प्राणायाम करना चाहिए।

३. शरीर में मल भरा हो (उदर शुद्धि न हुई हो) तो ऐसी अवस्था में प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

४. प्राणायाम करते समय श्वास-प्रश्वास नासिका से ही लेने चाहिए, मुख से नहीं और नासिका को हाथ से पकड़ना भी नहीं चाहिए।

५. बाह्य प्राणायाम करते समय मूलेन्द्रिय (= गुदा इन्द्रिय) को ऊपर की ओर संकुचित करना चाहिए। यदि प्रारंभ में मूलेन्द्रिय का संकोच न हो सके तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

६. एक समय में एक ही प्रकार का प्राणायाम करना चाहिए। जैसे बाह्य प्राणायाम अथवा आभ्यन्तरं प्राणायाम। दो या तीन प्रकार के प्राणायाम एक साथ नहीं करने चाहिएं।

७. प्रारंभ में व्यक्ति को प्रातःकाल और सायंकाल ३ - ३ की संख्या में प्राणायाम करने चाहिए। पश्चात् अधिकतम संख्या २१ तक किये जा सकते हैं।

८. अच्छा हो प्राणायाम किसी अनुभवी व्यक्ति से सीख कर किया जाय।

प्राणायाम करने में कभी भी हठ =(जबरदस्ती) नहीं करनी चाहिए।

९. प्राणायामों की संख्या अवस्था, बल, ऋतु, भोजन, अनुभूति आदि के आधार पर निर्धारित करनी चाहिए। अर्थात् युवा अवस्था शारीरिक बल की अधिकता, शीत ऋतु, पौष्टिक =(स्निग्ध) भोजन की स्थिति में प्राणायाम अधिक मात्रा में कियें जा सकते हैं। इसके विपरीत बाल या वृद्धावस्था, निर्बलता, ग्रीष्म ऋतु, शुष्क भोजन तथा कण्ठ और होठ सूखने, सिर में भारीपन होने की स्थिति में प्राणायाम कम कर देने चाहिएँ।

१०. रोगावस्था में प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

११. प्राणायामों की संख्या भी निर्धारित करनी चाहिए, इससे आवश्यकता से अधिक या कम प्राणायाम नहीं होते तथा प्राणायामों की संख्या घटाने बढ़ाने में भी सुविधा रहती है।

१२. प्राणायाम करने वाले व्यक्ति को बुद्धिनाशक, मदकारी व तामसिक पदार्थों यथा - शराब, धूम्रपान, प्याज, लहसुन, चाय, कॉफी, मसाले, मांस, अण्डे आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

१३. प्राणायाम करते समय मन में 'ओ३म् शब्द' या 'गायत्री मन्त्र' या 'प्राणायाम मन्त्र' का जप अर्थ सहित करना चाहिए।

१४. एक प्राणायाम करने के पश्चात् और अगला प्राणायाम आरम्भ करने से पहले २-३ श्वास ले लेने चाहिए। इससे श्वास प्रश्वास की स्थिति सामान्य हो जाती है और अगला प्राणायाम करने में सुविधा होती है।

१५. प्राणायाम करते समय प्राणवायु को अन्दर लेने, अन्दर रोकने तथा बाहर निकालने में जो काल का १:२:३ का अनुपात या अन्य कोई

भी अनुपात, प्रचलित है, उसका निर्देश पतंजलि आदि ऋषियों ने नहीं किया है अतः वैसा नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से जप क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है।

महर्षि पजञ्जलिजी ने अपने ग्रंथ योगदर्शन में चार प्रकार के प्राणायाम बताये हैं- (१) बाह्य प्राणायाम (२) आभ्यन्तर प्राणायाम (३) स्तम्भवृति प्राणायाम (४) बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम।

किन्तु यहाँ पर केवल बाह्य प्राणायाम की विधि बतलायी जा रही है।

बाह्य प्राणायाम की विधि- जैसे वमन =उल्टी होने पर खाया-पीया अन्न जल बाहर निकल जाता है वैसे ही आसन को अच्छी प्रकार लगाकर वेग से प्राण को यथाशक्ति बाहर निकाल देना चाहिए और मूलेन्द्रिय =(गुदा इन्द्रिय) को ऊपर संकुचित करना =(खींचना) चाहिए। प्राणवायु को यथाशक्ति (कुछ - सैकिण्ड) बाहर ही रोके रखना चाहिए। इस काल में मन में 'ओम्' शब्द, या 'गायत्री मन्त्र' या 'प्राणायाम मन्त्र' का अर्थ सहित जप करना चाहिए। जब घबराहट होने लगे तो प्राण को धीरे-धीरे अन्दर ले लेना चाहिए। जब प्राण वायु आवश्यकता के अनुसार अन्दर आ जावे तो समझना चाहिए कि एक प्राणायाम हो गया है। इसी प्रकार फिर दूसरा और तीसरा प्राणायाम करना चाहिए।

साध्य-साधक-साधन का चिन्तन

साध्य (ईश्वर) का चिन्तन-

हे परमेश्वर आप सत् हैं, अर्थात एक सत्तात्मक पदार्थ हैं। आप चित् हैं अर्थात चेतन हैं, सब कुछ जानते हैं। आप आनन्दस्वरूप हैं, आप कभी भी दुःखी नहीं होते। आप निराकार हैं, आपकी कोई आकृति, रंगरूप या मूर्ति नहीं हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं, संसार को बनाने, पालने, विनाश करने तथा जीवों को कर्म फल देने में आप किसी की भी सहायता नहीं लेते। आप न्यायकारी हैं, जो मनुष्य जैसा (अच्छा या बुरा) और जितना कर्म करता है, उसे वैसा व उतना ही फल देते हैं। हे प्रभो, आप दयालु हैं, आपने सब प्राणियों पर दया करके उन्हें सब प्रकार के सुख साधन प्रदान किये हैं। आप अजन्मा हैं अर्थात् जीवों के समान शरीर से संयोगरूपी जन्म नहीं लेते हैं। आप अन्नत हैं, अर्थात् आप की विशालता की कोई सीमा नहीं हैं। आप निर्विकार हैं, जैसे शाक, फल आदि जड़ पदार्थों में गलना-सड़ना, घटना-बढ़ना होता है वैसे विकार आप में नहीं होते। हे परमेश्वर! आप अनादि हैं, आपकी उत्पत्ति कभी भी नहीं हुई। आप अनुपम हैं, आपके समान-ज्ञान-बल-आनन्दवाली और कोई वस्तु नहीं हैं। हे प्रभो! आप सर्वाधार हैं, आप ब्रह्माण्ड में स्थित पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, आकाश-गंगा आदि सब पदार्थों के आधार हैं। हे देव आप सर्वेश्वर हैं, संसार में जितने भी धन, सम्पत्ति, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य,

वृक्ष-वनस्पति, ग्रह-उपग्रह आदि पदार्थ हैं, उन सब के आप ही स्वामी है । आप सर्वव्यापक हैं, संसार के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु और आत्मादि में तथा स्थूल से स्थूल सूर्यादि पदार्थों में आप विद्यमान हैं । हे प्रभो, आप सर्वान्तर्यामी हैं । आप सब में विद्यमान होकर सब का नियंत्रण करते हैं । हे परमेश्वर ! आप अजर हैं, कभी भी वृद्ध-बूढ़े (शक्तिहिन) नहीं होते । आप अमर हैं, कभी भी मरते नहीं हैं । आप अभय हैं, आपको, कभी भी किसी से किञ्चित् मात्र भय नहीं लगता है । आप नित्य हैं, सदा से हैं और सदा रहेंगे । हे प्रभो ! आप पवित्र हैं अर्थात न तो आप में अविद्या है और न आप कभी पाप कर्म करते हैं । हे परमेश्वर ! आप सृष्टिकर्ता हैं, आप ही ने इस दृश्यमान और अदृश्यमान संसार को बनाया है । हे दयानिधान ! संसार में केवल आप ही उपासना करने योग्य हैं, अन्य कोई वस्तु उपास्य नहीं है । आप हम पर कृपा कीजिये, जिससे हम आप की नित्य दोनों समय उपासना कर सकें और आपसे ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, प्राप्त करके, अपने जीवन को सफल बना सकें ।

साधक (=जीव) का चिन्तन-

हे परमेश्वर ! मैं सत्-चित्-स्वरूप आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ । यह शरीर तो मेरा निवास स्थान है । मैं इस शरीर में, हृदय में रहता हूँ । यह शरीर तो मरण-धर्मा है, किन्तु मैं नित्य, अजर, अमर हूँ । हे प्रभो ! मैं जीव, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ और न ही नपुंसक हूँ । आप मुझे जिस जिस शरीर के साथ जोड़ देते हैं, उस शरीरवाला कहा जाता हूँ । हे परमात्मन् ! मेरा इस शरीर के साथ सम्बन्ध अनित्य है

और शरीर के समान माता, पिता, भाई, बहन आदि सम्बन्धियों के साथ भी सम्बन्ध अनित्य है। इस शरीर के छूट जाने पर ये सांसारिक सम्बन्ध भी छूट जाते हैं। आदि सृष्टि से लेकर अब तक न जाने कितने ही आत्माओं के साथ मेरा सम्बन्ध बना और टूटा है। न जाने कितने व्यक्तियों का मैं पिता बना, माता बना, पुत्र-पुत्री बना, भाई-बहन बना और न जाने मैंने कितनी बार अपने कर्मफलानुसार पशु-पक्षियों के शरीर धारण किये होंगे। इन सब की गणना करना भी असंभव है। हे प्रभो ! मैं जीव अत्यन्त अणुरूप हूँ और एकदेशी हूँ। मेरा अपना ज्ञान भी बहुत थोड़ा है। आप द्वारा शरीर, मन व इन्द्रियों आदि को प्राप्त करने पर ही मैं अपने स्वरूप को जानने में और कर्मों को करने में समर्थ होता हूँ। हे परमात्मन् ! आपने मुझे विविध साधन प्रदान करके भी कर्म करने में स्वतंत्रता दी है। मैं अपनी इच्छा से अच्छे-बुरे कर्मों को करने, न करने में स्वतंत्र हूँ, किन्तु उन कर्मों का फल भोगने में आपकी न्याय-व्यवस्था के आधीन रहता हूँ। अपने द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्मों के फल बच नहीं सकता, कभी न कभी अवश्य ही भोगना पड़ता है। इन कर्म-फलों का उत्तरदायित्व मुझ पर ही है, मन, बुद्धि, शरीरादि पर नहीं है। हे देव ! जैसे मैं आत्मा हूँ, वैसे ही समस्त संसार के प्राणी भी आत्माएँ हैं। स्वरूप से समस्त आत्माओं में कोई भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देता है, वह शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, कर्मों आदि के कारण से है। हे परमात्मन् ! जब तक मुझ में अविद्या (राग-द्वेष-मोह) है, तब तक मैं इस जन्म मरण के चक्र से छूट नहीं पाऊँगा। हे प्रभो ! अब तो मैं आपको प्राप्त करना चाहता हूँ, क्योंकि

मैंने पढ़ा है, सुना है कि जो जीव आपकी अनुभूति-साक्षात्कार कर लेता है, वह समस्त दुःखों से छूटकर, आपके परमानन्द का भागी बन जाता है। अतः हे प्रभो ! अब तो मुझे ज्ञान, बल, आनन्द प्रदान करके कृतकृत्य कीजिये, इसी उद्देश्य को लेकर अब मैं आपकी उपासना करने बैठा हूँ। आप दया के भण्डार हैं, मेरी इस आशा को शीघ्र ही सफल करेंगे ऐसा मुझे विश्वास है।

साधन (=संसार) का चिन्तन -

हे परमेश्वर ! जो यह संसार हमें दिखाई दे रहा है, यह आपको प्राप्त करने का साधन है। इस संसार का मूल कारण प्रकृति है। 'प्रकृति' अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं का नाम है। ये परमाणु तीन प्रकार के हैं। इनका नाम 'सत्त्वगुण', 'रजोगुण' और 'तमोगुण' है। ये तीनों प्रकार के परमाणु जड़ हैं, इनमें ज्ञान नहीं है। ये परमाणु अनादि और अनन्त हैं, अर्थात् न कभी उत्पन्न हुए न नष्ट होंगे। हे प्रभो ! आप इन्हीं सूक्ष्म परमाणुओं को लेकर अपनी अनन्त शक्ति और ज्ञान से इस दृश्यमान् सृष्टि को बनाते है। सर्वप्रथम इन परमाणुओं को जोड़कर महत्तत्व=बुद्धि नामक पदार्थ को बनाते है, जिसके सहयोग से हम बाह्य और आन्तरिक विषयों का ज्ञान करते हैं, तत्पश्चात् महत्तत्व से 'अहंकार' नामक पदार्थ को बनाते हैं, जिससे जीवात्मा अपने अस्तित्त्व=सत्ता की अनुभूति करता है। हे परमेश्वर ! जो आप अहंकार से १६ पदार्थ बनाते हैं, वे निम्न हैं- पाँच ज्ञानेन्द्रयाँ (= घ्राण,चक्षु, श्रोत्र, त्वक् और रसना), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, वाक्, गुदा, उपस्थ) पाँच तन्मात्राएँ (= सूक्ष्म भूत) जो कि गन्ध तन्मात्र, रूप

तन्मात्र, शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र और रस तन्मात्र हैं। सोलहवां मन बनाते हैं, जिससे हम संकल्प आदि अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। हे भगवन् ! फिर इन पाँच तन्मत्राओं से आप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच स्थूल भूतों का निर्माण करते हैं। इन्हीं पाँच स्थूल भूतों के संयोग से आप, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियों के शरीर बनाते हैं तथा इन्हीं भूतों से सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र आदि विभिन्न नक्षत्र ग्रह उपग्रह बनाते हैं। ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष तक यह संसार बना रहता है और ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष तक यह संसार अपने कारणरूप (= प्रकृति) में रहता है, जिसे प्रलय अवस्था कहते हैं। हे कृपालु देव ! आपने यह संसार दो प्रयोजन की सिद्धि के लिए बनाया है। एक भोग, दुसरा अपवर्ग। हे प्रभो ! सशरीर इस संसार में रहते हुए हम जीव पूर्ण और स्थिर सुख को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। संसार के समस्त पदार्थों में जो सुख लेता है उसको परिणाम-ताप आदि चार प्रकार के दुःखों को अवश्य ही भोगना पड़ता है। हे प्रभो ! न जाने कितने वर्षों से मैं इस घोर संसार में नाना योनियों को प्राप्त करके, जन्म-मरण इत्यादि दारूण दुःखों को भोगता आया हूँ। अब तो आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मुझे ज्ञान, बल, सामर्थ्य प्रदान करो, जिससे मैं मुक्ति के मार्ग की ओर प्रवृत होऊँ और आपकी अमृतमयी गोद में बैठकर पूर्ण व स्थायी सुख को प्राप्त करूँ।
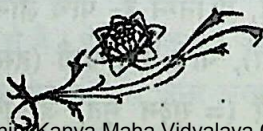
जप : विधि और निर्देश

जप के विषय में कुछ आवश्यक निर्देश -

१. किसी मन्त्र, वाक्य या शब्द का बार-बार उच्चारण करना 'जप' कहलाता है ।

२. जिस मन्त्र, वाक्य या शब्द से जप किया जाये, वह ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना या उपासना से सम्बन्धि होना चाहिए, अन्य किसी विषय से सम्बन्धित नहीं होना चाहिए ।

३. जप के समय तीन क्रियाएँ होना चोहियें -

(क) शब्द का उच्चारण,
(ख) शब्द के अर्थ का विचार (जिसे भावना कहते हैं),
(ग) ईश्वर - प्रणिधान ।

उपर्युक्त तीनों क्रियाओं के बिना जप का पूरा लाभ नहीं होता ।

४. यदि जप के काल में तीनों क्रियाएँ एक साथ न हो सकें तो पहले शब्द = मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । फिर रुक कर शब्द के अर्थ का विचार करना चाहिए । किन्तु ईश्वर - प्रणिधान तो दोनों क्रियाओं के साथ रहना चाहिए । अभ्यास से तीनों क्रियाएँ एक साथ होने लगती हैं ।

५. जप मुख्य रूप से तीन प्रकार से किया जाता है -

(क) ऊँचे स्वर से बोलकर,
(ख) बिना ध्वनि के, केवल होठ हिलाकर,
(ग) मन में उच्चारण करके (बिना होठ हिलाये) ।

६. नवीन साधक को ऊँचे स्वर से जप करने में सरलता रहती है। ऐसा करने से वह वृत्तियों को रोकने में समर्थ हो जाता है। जैसे-जैसे साधक की योग्यता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे दूसरी व तीसरी विधि अनुकूल पड़ने लगती है।

७. एक काल में (एक समय की उपासना में) एक ही मन्त्र या शब्द का बार-बार उच्चारण पूर्वक जप करना चाहिए। जैसे ओऽऽऽऽम् न्यायकारी, ओऽऽऽऽम् न्यायकारी, ओऽऽऽऽम् न्यायकारी। ऐसा करने से ईश्वर के स्वरूप का हम पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत शीघ्र ही शब्दों को बदलते जाने से विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे कि ओऽऽऽऽम् न्यायकारी, ओऽऽऽऽम् दयालु, ओऽऽऽऽम् अजन्मा इत्यादि।

८. यद्यपि ईश्वर के किसी भी नाम का जप, ध्यान के समय किया जा सकता है, किन्तु जिन मन्त्रों या शब्दों से या वाक्यों से ईश्वर का सर्वाधिक स्वरूप (= गुण, कर्म, स्वभाव) हमारे समक्ष उपस्थित होता है, उन शब्दों या मन्त्रों का जप करना अधिक लाभकारी रहता है। ऐसे अनेक शब्दों या मन्त्रों का निर्वाचन ऋषियों ने कर रखा है, हमें उन्हीं के माध्यम से जप करना चाहिए, जैसे कि - (क) ओ३म्, (ख) गायत्री मन्त्र, (ग) प्राणायाम मन्त्र = ओ३म् भूः ओ३म् भुवः इत्यादि। (घ) ओ३म् असतो मा सद्गमय...। इसी प्रकार से अन्य शब्दों से या मन्त्रों से भी जप कर सकते हैं जैसे कि (च) ओ३म् आनन्द। (छ) ओ३म् सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं, ब्रह्म। (ज) ओ३म् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि... (झ) ओ३म् विश्वानि देव सवितर... इत्यादि।

९. ईश्वर के जिस गुण, कर्म, स्वभाव को मन सें रख कर जप किया जाता है तो ईश्वर के उसी गुण की प्राप्ति होती है, जैसे कि -

(क) 'आनन्द' शब्द से जप करें तो आनन्द की प्राप्ति होगी.

(ग) 'सर्वज्ञ' शब्द से जप करें तो ज्ञान की प्राप्ति होगी.

(घ) 'रक्षक' शब्द से जप करें तो हमारे अन्दर भी और दूसरों की रक्षा करने का गुण आयेगा.

(ङ) 'निर्भय' शब्द से जप करें तो निर्भयता की प्राप्ति होगी.

'ओ३म्' शब्द की जपविधि (ध्वनि पूर्वक बोलकर)

इसकी विधि इस प्रकार से है कि साधक को अच्छी प्रकार आसन लगाकर (= सीधा होकर) बैठना चाहिए और प्राण वायु को शरीर में धीरे धीरे भर लेना चाहिए । जब वायु शरीर में पूरी तरह भर जावे तो 'ओ३म्' शब्द का गंभीरता से प्रेम पूर्वक उच्चारण करना चाहिए । उच्चारण करते समय अन्दर भरी हुई वायु अपने आप बाहर निकलती रहेगी । जब 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण पूरा हो जावे, तब कुछ काल रुक कर 'ओ३म्' शब्द का एक अर्थ (= यथा सर्वरक्षक) का विचार करना चाहिए । यह विचार इन शब्दों में किया जा सकता है कि "हे परमेश्वर ! आप सर्वरक्षक हैं, आप मेरी रक्षा करो" । इतना विचार कर फिर शरीर में दुबारा श्वास भर कर पूर्व की तरह धीरे-धीरे गंभीरता व प्रेमपूर्वक ओ३म् शब्द का उच्चारण करना चाहिए । जब उच्चारण हो जावे तो पुनः उसी प्रकार अर्थ का विचार करना चाहिए । इस प्रकार बार-बार उपासना काल में 'ओ३म्' शब्द का लम्बे स्वर से उच्चारण

तथा इस शब्द के किसी एक अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। इन दोनों कार्यों को करते हुए एक तीसरा काम ईश्वर प्रणिधान भी करना चाहिए। "ईश्वर मुझे देख-सुन-जान रहा है। मैं उसी में डूबा हुआ हूँ। ईश्वर मेरे अन्दर विद्यमान है" ऐसा विचार (=करना-भावना) बनाना "ईश्वर प्रणिधान" कहलाता है। शब्द का उच्चारण, शब्द के अर्थ का विचार तथा ईश्वर प्रणिधान बनाये रखने से ही जप का विशेष लाभ होता है।

इसी प्रकार बिना उच्चारण किये (केवल होठ हिलाकर) तथा होठ को भी न हिलाते हुए मन में शब्द का उच्चारण, अर्थ चिन्तन तथा ईश्वर प्रणिधान करते हुए जप किया जा सकता है।

गायत्री मन्त्र की जप विधि

प्रथम विधि : उपासना काल में आसन पर बैठकर अत्यन्त श्रद्धा व प्रेम से गंभीरता पूर्वक 'गायत्रीमंत्र' का उच्चारण करना चाहिए। मन्त्र पूरा बोलने के पश्चात् मन्त्र के प्रत्येक शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए, जैसा कि इसी पुस्तक के पृष्ठ संख्या (४५) पर संक्षिप्त अर्थ दिया हुआ है। प्रथम शब्द का अर्थ विचार करके फिर दूसरे शब्द को लेकर उस पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार जब मंत्र के सभी शब्दों का अर्थ विचार हो जावे तो पुनः पूर्व की तरह 'गायत्रीमंत्र' से उच्चारण करना चाहिए और फिर एक एक शब्द का क्रमशः अर्थ चिन्तन करना चाहिए।

'गायत्रीमन्त्र' का जप अर्थ-चिन्तन सहित ही करना चाहिए

चाहे एक मन्त्र पर उपर्युक्त विधि से ५-७ मिनिट भी क्यों न लगे। मन्त्र का उच्चारण तथा मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए 'ईश्वर प्रणिधान' भी बनाये रखना चाहिए।

द्वितीय विधि : जब साधक को गायत्री मन्त्र के समस्त शब्दों का अर्थ स्मरण हो जावे तो गायत्री मन्त्र को एक साथ पूरा न बोलकर लम्बे स्वर से धीरे-धीरे, एक-एक शब्द को उच्चारण करते हुए साथ-साथ उस शब्द के अर्थ का भी विचार करते जाना चाहिए। जैसे 'ओऽऽऽऽम्' शब्द बोलते हुए इस शब्द का अर्थ 'हे ईश्वर आप सर्वरक्षक हैं....' इत्यादि। इसका विचार भी मन में साथ साथ करना चाहिए। फिर 'भूः ऽऽऽऽ' बालते हुए "आप मेरे प्राणाधार है....." इत्यादि अर्थ विचारते रहना चाहिए। इसी प्रकार से पूरे मन्त्र का उच्चारण लम्बे स्वर से करते हुए अर्थ विचार भी साथ-साथ करते जाना चाहिए। इन दोनों क्रियाओं को करते समय 'ईश्वर प्रणिधान' भी अवश्य बना रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहीए।

।। अथ सन्ध्योपासनविधि ।।

।। अथाचमनमन्त्र ।।

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ।। (यजु० ३६ / १२)

शम्	- कल्याणकारी	भवन्तु	- होवे
नः	- हमारे लिए	पीतये	- मोक्ष सुख के लिए
देवीः	- सबका प्रकाशक	शंयोः	- सुख की
अभिष्टये	- मनोवांछित सुख के लिए	अभिस्रवन्तु	- वर्षा करे
		नः	- हमारे लिए ।
आपः	- सर्वव्यापक ईश्वर		

हे सर्वजगत् उत्पादक, सर्वव्यापक, सर्वानन्दप्रदाता ईश्वर हमारा कल्याण करो । संसार में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए जिस-जिस ज्ञान, बल, प्रजा, पशु, धन, सम्पत्ति, दीर्घायु आदि उत्तम पदार्थों की आवश्यकता होती है, उन सब को, धर्मपूर्वक व सुगमता से प्राप्त करने का सामर्थ्य हमें प्रदान करो । कभी भी, किसी भी वस्तु की कमी हमारे पास न हो, बल्कि हम सब अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करके, सब काल में सर्वथा सुखी ही रहें । हे सर्वान्तर्यामी, करुणाकर दयानिधे ! हमें आप पर पूरा भरोसा है, आप अवश्य ही हमारी इस इच्छा को पूरा करेंगे ।

॥ अथेन्द्रियस्पर्शमन्त्राः ॥

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः । ओं चक्षुश्चक्षुः । ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् । ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्यां यशोबलम् । ओं करतलकरपृष्ठे ॥

वाक् वाक्	- वाणी और रसना	शिरः	- शिर
प्राणः प्राणः	- प्राणवायु	बाहुभ्याम्	- दोनां भुजाएँ
चक्षुः चक्षुः	- दोनों नेत्र	यशोबलम्	- कीर्ति और शक्ति
श्रोत्रम् श्रोत्रम्	- दोनों कान	करतलकरपृष्ठे	- हाथ का नीचे का व ऊपर का भाग (आयुपर्यन्त बलवान् रहे ।)
नाभिः	- हृदय		
कण्ठः	- कण्ठ		

हे सर्वरक्षक, सर्वशक्तिमान्, महादाता, परमेश्वर ! आपसे प्राप्त वाणी, नेत्र, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कष्ठ, सिर, हाथ, पाँव आदि सभी इन्द्रियरूप ज्ञान व कर्म के साधनों को बलवान् तथा दृढ स्थिर बनाये रखूँ। हे महावैद्य ! ऋषियों ने आयुर्वेदादि सत्यशास्त्रों में, शरीर के अवयवों को स्वस्थ, पुष्ट, बलयुक्त तथा दीर्घायु बनाये रखने के लिए जिन आहार, विहार, ओषध, पथ्य तथा अन्य विधि-विधानों का निर्देश किया है, उन सबका मैं संयम पूर्वक पालन सदैव करता रहूँ, जिससे सौ वर्ष तक और इससे भी अधिक वर्षों तक इन शरीरादि साधनों में किसी भी प्रकार की निर्बलता, रोष, विकार अथवा न्यूनता आदि न आने पावे । हे कृपानिधे ! ऐसी प्रेरणा, उत्साह, सामर्थ्य, पुरुषार्थ मुझे प्रदान करो जिससे मैं आपकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना और आपकी आज्ञाओं का पालन श्रद्धा पूर्वक, दृढ़ता से करता रहूँ ।

॥ अथेश्वर-प्रार्थनापूर्वकमार्जनमन्त्राः ॥

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ।। ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुंनातु पादयोः । ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि । ओं खम्ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।।

ओम्	- सर्वरक्षक ईश्वर	हृदये	- हृदय में
भूः	- प्राणों से भी प्रिय	जनः	- जगत् उत्पादक
पुनातु	- पवित्रता करे	नाभ्याम्	- नाभि में
शिरसि	- शिर में	तपः	- ज्ञान स्वरूप (दुष्ट विनाशक)
भुवः	- सब दुःखों से छुडाने वाला		
नेत्रयोः	- नेत्रों में	पादयोः	- दोनों पैरों में
स्वः	- आनन्द स्वरूप	सत्यम्	- अविनाशी
कण्ठे	- कण्ठ में	खं ब्रह्म	- सर्वव्यापक महान्
महः	- पूजनीय (सबसे बड़ा)	सर्वत्र	- सब इन्द्रियों पर (में) ।

हे सर्वोत्कृष्ट, परमपवित्र, परमात्मन् ! आपसे प्राप्त प्रेरणा तथा ज्ञान-विज्ञान से मैं इन समस्त इन्द्रियों के दोषों को हटाकर इन्हें पवित्र और उत्कृष्ट बनाऊँ। वाणी आदि कर्मेन्द्रियों से मैं सदा शुभ कर्मों को ही करूँ, अशुभ कर्मों को कदापि न करूँ। नेत्र, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से मैं सदा शुद्ध ज्ञान का ही अर्जन करता रहूँ। अशुद्ध ज्ञान का अर्जन कदापि न करूँ। मन से मैं सदा शुभ विचारों को ही उत्पन्न करूँ, अशुभ विचारों को कभी भी न उठाऊँ। सदा आनन्द, निर्भयता, शान्ति की अनुभूति करता हूँ। हे पूज्य इष्ट देव ! आपसे यही मेरी विनम्र प्रार्थना है,जिसे आप अवश्य ही पूरा करेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

॥ अथ प्राणायाममन्त्राः ॥

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ॥ तैत्ति १० । २७ ॥

हे जीवनाधार, दुःखनाशक, सुखप्रदाता, सबसे महान् जगत् उत्पादक, ज्ञानस्वरूप, दुष्टों को दण्ड देने वाले, अविनाशी प्राणेश्वर ! मैं इस महत्वपूर्ण 'प्राणायाम' नामक प्रक्रिया को विधिवत् आपकी स्मृतिपूर्वक कर रहा हूँ । आपकी कृपा से इस 'प्राणायाम' से मेरी बुद्धि कुशाग्र हो, स्मृतिशक्ति बढे, कार्य करने में एकाग्रता हो, मन प्रसन्न हो, कुसंस्कारों का विनाश तथा सुसंस्कारों की प्रवृद्धि हो, हृदय में आपके प्रति अत्यन्त श्रद्धा, रुचि तथा प्रेम निरन्तर बढता ही जाये और आपकी दिव्य अनुभूति मैं करता रहूँ, यही आपसे मेरी हार्दिक प्रार्थना है ।

॥ अथाघमर्षणमन्त्राः ॥

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः ॥ १ ॥

(ऋग्वेद १०-१९०-१)

ऋतम्	- वेद ज्ञान	ततः	- उसी ईश्वर से
सत्यम्	- कार्य जगत्	रात्री	- प्रलय रूपी रात्रि
च	- और	अजायत	- उत्पन्न हुई
अभिद्धात्	- ईश्वर के ज्ञानमय	ततः	- उसी ईश्वर से
तपसः	- सामर्थ्य से	समुद्रः	- पृथ्वी पर स्थित समुद्र
अध्यजायत	- उत्पन्न हुआ	अर्णवः	- आकाश में स्थित जल ।

समुद्रार्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।। २ ।। (ऋ. १०-१९०-२)

समुद्रात्	- पृथ्वी पर स्थित समुद्र	अजायत	- उत्पन्न हुआ
अर्णवात्	- आकाश में स्थित जल की उत्पत्ति के	अहोरात्राणि	- दिन और रात
		विदधत्	- रचे हैं
अधि	- पश्चात्	विश्वस्य	- सब संसार को
संवत्सरः	- क्षण, मुहुर्त, प्रहर आदि काल	मिषतः	- सहज स्वभाव से
		वशी	- वश में करने वाले (ईश्वर ने)।

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।।३।। (ऋ. १०-१९०-३)

सूर्याचन्द्रसमसौ	- सूर्य चन्द्रमा आदि लोकों को	च	- और
		पृथिवीम्	- पृथ्वी लोक को
धाता	- धारण करने वाले ईश्वर ने	च	- और
		अन्तरिक्षम्	- अन्तरिक्ष लोक को
यथापूर्वम्	- पूर्वकल्प के समान	अथो	- और
अकल्पयत्	- रचा है	स्वः	- आकाश में स्थित सब लोक लोकान्तरों को।
दिवम्	- द्युलोक को		

हे महाबलेश्वर, सृष्टिकर्ता प्रभो ! आपने अपने अनन्त ज्ञान तथा सामर्थ्य से इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना की है । आप ही इन समस्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि नक्षत्र, ग्रह-उपग्रह को बनाने वाले हो । आपने ही पृथ्वी में स्थित समुद्र, नदी, पर्वत, जंगल,

वनस्पति, कन्द, मूल, फल, फूल, घास, अन्न आदि पदार्थों को बनाया है । मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंग, कृमिं आदि समस्त प्राणियों के शरीरों की रचना करने वाले भी आप ही हो, अन्य कोई नहीं ।

हे महाज्ञानेश्वर ! आपने ही सृष्टि के आदि में मनुष्यों के कल्याणार्थ चार वेदों को प्रकट किया, जिनको पढ़कर हम सम्पूर्ण पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव, उनका उपयोग तथा विधि-निषेध का परिज्ञान करते हैं । आपने ही क्षण, पल, मुहुर्त, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, मन्वन्तर आदि के रूप में काल का विभाग किया है । हे सर्व-स्वामिन् ! आप ही इन दृश्यमान-अदृश्यमान लोक-लोकान्तरों के वास्तविक स्वामी हो । आप ही समय पर इस जगत् को प्रलयरूप में बदल देते हो । अनादि काल से आप ऐसे ही सृष्टि व प्रलय को करते आये हो और भविष्य में अनन्त काल तक करते रहोगे ।

हे सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, महेश्वर ! आप समस्त जगत् के कण-कण में व्यापक होकर इसका नियंत्रण-नियमन कर रहे हो । सम्पूर्ण विश्व के, समस्त प्राणियों द्वारा मन-वाणी-शरीर से की जाने वाली सभी क्रियाओं के आप प्रत्यक्ष ज्ञाता हो । आप से छिप कर कोई भी प्राणी, कभी भी, कहीं भी, किसी भी कर्म को नहीं कर सकता । हे न्यायकारी ! जब आप मेरे प्रत्येक कर्म के ज्ञाता है ही, तो आपकी उपस्थिति सर्वत्र जानकर, मैं कभी भी, एक क्षण के लिंए भी, मन में पाप भावना को उत्पन्न न करूँ, मुझे ऐसा सामर्थ्य, ज्ञान, बल, प्रदान करो, यहीं आपसे मेरी विनय है, जिसे आप अपनी कृपा से पूरा करो ।

॥ अथाचमनमन्त्रः ॥

ओं शन्नो देवीरभिष्टयेऽआपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ।। (यजु. ३६ । १२)

॥ अथ मनसापरिक्रमामन्त्रा ॥

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।१।।

(अथर्व. ३-२७-१)

प्राची - सामने की (पूर्व)
दिक् - दिशा का
अग्निः - ज्ञानस्वरूप (ईश्वर)
अधिपतिः - स्वामी है
असितः - बन्धन रहित
रक्षिता - रक्षा करने वाला है
आदित्याः - प्राण, सूर्य की किरणें
इषवः - बाण के समान हैं
तेभ्यः - उनके लिए
नमः - नमस्कार हो (अर्थात् यथायोग्य उपयोग करें)
अधिपतिभ्यः - अधिपति (ईश्वर) के गुणों के लिए
नमः - नमस्कार हो
रक्षितृभ्यः - रक्षा करनेवाले (ईश्वर के गुण और उसके रचे पदार्थों) के लिए
नमः - नमस्कार हो
इषुभ्यः - बाणों के लिए
नमः - नमस्कार हो
एभ्यः - इन के लिए
अस्तु - होवे
यः - जो व्यक्ति
अस्मान् - हम से
द्वेष्टि - द्वेष करता है
यम् - जिससे
वयम् - हम
द्विष्मः - द्वेष करते हैं ।
तम् - उस (द्वेष को)
वः - आपके
जम्भे - न्यायरूपी जबड़े में
दध्मः - (रखकर) नष्ट करते हैं।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।। २ ।। (अथर्व. ३-२७-२)

दक्षिणा	- दक्षिण (दाईं)	तिरश्चिराजी	- कीट पतंग आदी
दिक्	- दिशा का	रक्षिता	- रक्षा करने वाले हैं
इन्द्रः	- परमैश्वर्ययुक्त (ईश्वर)	पितरः	ज्ञानी लोग
अधिपतिः	- स्वामी है	इषवः	- बाण के समान हैं

प्रतीची दिग्वरुणोधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।३।। (अथर्व. ३-२७-३)

प्रतीची	- पीछे की (पश्चिम)	पृदाकुः	- अजगर आदी विषधर प्राणी
दिक्	- दिशा का	रक्षिता	- रक्षा करने वाले हैं
वरुणः	- सर्वोत्तम (ईश्वर)	अन्नम्	- अन्नादि भोग्य पदार्थ
अधिपतिः	- स्वामी है	इषवः	- बाण के समान हैं

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।४।। (अथर्व. ३-२७-४)

उदीची	- बाई (उत्तर)	स्वजः	- अजन्मा
दिक्	- दिशा का	रक्षिता	- रक्षा करने वाला है
सोमः	- शान्ति प्रदाता (ईश्वर)	अशनिः	- विद्युत्
अधिपतिः	- स्वामी है	इषवः	- बाण के समान है ।

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्पाषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।५।। (अथर्व. ३-२७-५)

ध्रुवा	- नीचे की	कल्माषग्रीवः	- वृक्ष आदि
दिक्	- दिशा का	रक्षिता	- रक्षा करने वाले हैं
विष्णुः	- सर्वव्यापक (ईश्वर)	वीरुधः	- लता, बेल आदि
अधिपतिः	- स्वामी है	इषवः	- बाण के समान है ।

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।६।। (अथर्व. ३-२७-६)

ऊर्ध्वा	- ऊपर की	अधिपति	- स्वामी है
दिक्	- दिशा का	श्वित्रः	- शुद्ध स्वरूप
बृहस्पतिः	- वेदशास्त्र तथा ब्रह्माण्ड का पति (ईश्वर)	रक्षिता	- रक्षा करने वाला है
		वर्षम्	- वर्षा के बिन्दु
		इषवः	- बाण के समान हैं ।

हे अनादि, अनन्त, सर्वस्वामिन्, परब्रह्म ! मैं अपने आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, जिस दिशा की ओर अपनी दृष्टि डालता हूँ, मुझे सर्वत्र आप व आपकी दिव्य शक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही है। हे महाज्ञानी, परमैश्वर्युक्त, सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक, शान्तिप्रदाता समस्त ब्रह्माण्ड के रचयिता, पालयिता, रक्षक, महाराजाधिराज ! आप स्वयं अपने अनन्त गुण-कर्म-स्वभावों से तथा अपने बनाये दिव्यगुणयुक्त जड़ व चेतन पदार्थों से हम मनुष्यों की निरन्तर सब प्रकार से रक्षा कर रहे हैं।

हे सर्वाधार, सर्वपालक, सर्वरक्षक महेश्वर ! आपसे अधिक कल्याणकारी, हितैषी, दयालु हम प्राणियों के लिए और कोई नहीं है। हे देवाधिदेव महादेव ! हम आपको अत्यन्त गद्-गद् होकर श्रद्धा व अतिप्रेम से बारम्बार नमस्कार करते हैं। हे अनन्त पराक्रमेश्वर ! आपके बनाये नियमों तथा दिव्य पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभावों को ठीक-ठीक जानकर उनका सदुपयोग करें, हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करो।

हे सर्वकल्याणकर्ता, परमानन्ददाता, जगदीश्वर ! आप से प्राप्त, इस अमूल्य स्वर्णिम जीवन को मैं राग-द्वेष, भय-शोक, आलस्य-प्रमाद, भोग-विलास, लड़ाई-झगड़ा आदि में व्यतीत करते हुए नष्ट न कर दूँ, मुझे ऐसा ज्ञान-विज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य, उत्साह तथा प्रेरणा प्रदान करो। हे सर्वरक्षकेश्वर ! आपको सर्वत्र व्यापक, रक्षक मानकर मैं निर्भय, निःशंक, उत्साही, आनन्दित, पुरुषार्थी होकर आपकी आज्ञाओं का पालन सदैव करता रहूँ यही मेरी आपसे विनम्र प्रार्थना है, जिसे आप अवश्य ही पूरी करेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

॥ अथोपस्थानमन्त्राः ॥

ओम् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥ (य. ३५-१४)

उत्	- श्रद्धावान् होकर		वर्तमान (रहनेवाले)
वयम्	- हम लोग	देवं देवत्रा	- देवों का भी देव
तमसः	- अन्धकार से	सूर्यम्	- जड़ और चेतन जगत्
परि	- पृथक् (रहित)		के आधार को
स्वः	- आनन्दस्वरूप (ईश्वर को)	अगन्म	- प्राप्त करें
पश्यन्तः	- देखते हुए	ज्योतिः	- स्वप्रकाशस्वरूप को
उत्तरम्	- प्रलय के बाद भी	उत्तमम्	- सर्वोत्कृष्ट को ।

हे सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् के आधार परमेश्वर ! संसार के सभी भोग्य पदार्थ क्षणिक-सुखदायी, विभिन्न प्रकार के दुःखों से युक्त, विकारी तथा अनित्य हैं । यह मैंने अब अच्छी तरह से निश्चय कर लिया है । एक आप ही सब प्रकार की अविद्या (=राग,द्वेष,मोहादि) से रहित, पूर्ण आनन्द देने वाले, नित्य, सर्वोत्कृष्ट सहायक हो । अब तो मैं इस संसार के विषय भोगों की तृष्णा को त्याग कर, अत्यन्त श्रद्धा व प्रेम से युक्त होकर आपकी शरण में उपस्थित हुआ हूँ । आप स्वकृपा से मुझे अपना मित्र, शिष्य, सेवक बनाओ और अपने दिव्य स्वरूप का परिज्ञान कराकर, परमानन्द की अनुभूति कराओ ।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ (यजु० ३३/३१)

उत्	- अच्छी प्रकार से	त्यम्	- उस परमात्मा को
उ	- निश्चय से	जातवेदसम्	- उत्पन्न सम्पूर्ण

	जगत् को जानने वाले को		वेद-मंत्र
देवम्	- देवों के भी देव को	दृशे	- देखने के लिए (विद्याप्राप्ति)
वहन्ति	- जनाते हैं	विश्वाय	- विश्व को (सम्पूर्ण)
केतवः	- जगत् के रचनादि नियामक गुण तथा	सूर्यम्	- जड़ और चेतन के आधार ईश्वर को ।

हे विश्व के कर्ता, धर्ता, हर्ता, ज्ञाता परमदेव ! इस ब्रह्माण्ड में आपके बनाये विविध पदार्थ एवं नियम आपकी अद्वितीय शक्ति, ज्ञान, दया का मुझे परिचय करा रहे है । आपके बिना अन्य कोई भी इन सूक्ष्म-स्थूल वस्तुओं को बनाने, चलाने, रक्षण करने तथा नियंत्रित रखने में समर्थ नहीं है । संसार के इन अनन्त पदार्थों से मुझे आपकी सर्वत्र उपस्थिति का अनुमान सरलता से हो जाता है । हे सर्व व्यापकेश्वर ! जब मैं आपको प्राप्त कर लूँगा, तो मेरी सब कामनाओं की पूर्ति स्वतः ही हो जावेगी, कोई भी इच्छा शेष नहीं रहेगी । इसलिए अब तो मैं केवल आपकी ही प्राप्ति की कामना करता हूँ । अन्य किसी की नहीं । सो आप अवश्य ही उसे पूरी करेंगे ।

चित्रं देवानामुगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं ँ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ।।३।। (यजु० ७/४२)

चित्रम्	- अद्‌भुत् स्वरूप	मित्रस्य	- रागद्वेष रहित का विद्याओं को जानने व प्रकाश करनेवाला है
देवानाम्	- विद्वानो के हृदय में		
उदगात्	- अच्छी प्रकार से प्रकट होने वाला है (हुआ है)	वरुणस्य	- श्रेष्ठगुण, कर्म, स्वभाव वाले मनुष्य का
अनीकम्	- काम-क्रोधादि के नाश के लिए सर्वोत्तम बल है	अग्नेः	- भौतिक अग्नि का
चक्षुः	- सम्पूर्ण लोकों तथा	आ प्रा	- सब ओर से धारण

	करके रक्षा करता है	आत्मा	- आधार (व्यापक) है
द्यावापृथिवी	- द्युलोक और पृथ्वी लोक को	जगतः	- चेतन जगत् का (में)
		तस्थुषः	- जड़ जगत् (में)
अन्तरिक्षम्	- अन्तरिक्ष लोक को	च	- और
सूर्यः	- सबका प्रकाशक	स्वाहा	- मैं यह सत्य कहता हूँ

हे अत्यन्त आश्चर्यजनक गुण, कर्म, स्वभाव के भण्डार, विचित्र देव ! आपकी महिमा तो विद्वान्, योगी, धर्मात्माओं के जीवन में ही दृष्टिगोचर होती है । हे जगदुत्पादक, धारक, रक्षक, परमेश्वर ! आपके ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुणों को धारण करके तपस्वी लोग अपने उत्कृष्ट ज्ञान-विज्ञान, वाणी, संयम, दया, धैर्य, त्याग, तपस्या, पुरुषार्थ के द्वारा लाखों को प्रेरित करके सन्मार्ग पर चला देते हैं । हे प्रभो ! मेरी भी हार्दिक इच्छा है कि अपने हृदय में आपको हर क्षण धारण किये रहूँ, जिससे मैं शुभ कर्मों को करता हुआ, समस्त सांसारिक दुःखों से बचकर, सदा आनन्द में ही रहूँ । आप मेरी इस कामना को अवश्य ही पूरी करें ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।।४।। (यजु० ३६,२४)

तत्	- उस ब्रह्म को	उच्चरत्	- प्रलय पश्चात् भी रहता है
चक्षुः	- सब का द्रष्टा		
देवहितम्	- विद्वानों और धर्मात्माओं का हितकारी	पश्येम	- हम देखें (ईश्वर को)
		शरदः शतम्	- सौ वर्ष तक
पुरस्तात्	- सृष्टि से पूर्व	जीवेम	- हम जीवें
शुक्रम्	- शुद्ध स्वरूप (था)	शरदः शतम्	- सौ वर्ष तक

श्रुणुयाम	- हम सुनें (ईश्वर को)	स्याम	- रहें
शरदः शतम्	- सौ वर्ष तक	शरदः शतम्	- सौ वर्ष तक
प्रब्रवाम	- उपदेश करें (ब्रह्म का)	भूयश्च	- अधिक भी
शरदःशतम्	- सौ वर्ष तक	शरदः शतात्	- सौ वर्ष से
अदीनाः	- दीनता और अधीनता से रहित स्वतंत्र		(अधिक भी जीते हुए ईश्वर को देखें, सुनें, सुनावें)।

हे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी देवेश्वर ! जो धार्मिक-विद्वान् अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से गद्‌गद् होकर आपकी उपासना करता है, उस उपासक का आप हर प्रकार से कल्याण ही करते है। हे विज्ञान स्वरूप, परमदेव ! आप अपनी कृपा से मेरी आत्मा में प्रकट होओ। अपने हृदय में ही आपको १०० वर्षों तक देखता रहूँ, आपके प्रति श्रद्धा तथा विश्वास रखते हुए आपके संकेतो को सुनता रहूँ, आपकी कृपा से मैं भी कभी दीन-हीन वा दरिद्र न होऊं, बल्कि सर्वदा स्वस्थ, सम्पन्न तथा आनन्द में ही रहूँ।

॥ अथ गायत्रीमन्त्रः ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३६/३)

ओ३म्	- हे रक्षक पिता	भर्गः	- शुद्ध स्वरूप
भूः	- जीवनाधार,	देवस्य	- दिव्य गुणों के दाता हैं,
भुवः	- दुःखहर्ता,	धीमहि	- धारण करता हूँ,
स्वः	- सुखदाता,	धियः	- ज्ञानों को,
तत्	- आप	यः	- (जो) आप,
सवितुः	- उत्पादक,	नः	- हमारे,
वरेण्यम्	- सर्वश्रेष्ठ	प्रचोदयात्	- पवित्र कीजिये।

हे ओ३म् ! परमपिता परमात्मन् ! आप मेरे माता, पिता, गुरु, आचार्य, स्वामी, मित्र, रक्षक, निर्देशक आदि सब कुछ हो ।

हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणाधार, भगवन् ! आप मेरे प्राणों के भी प्राण हो । अर्थात् मैं आपके कारण ही इस संसार में सुख पूर्वक जी रहा हूँ । आपसे प्राप्त हुए साधनों के द्वारा ही मैं देखने, सुनने, खाने, पीने, तथा अन्य समस्त कार्यों को करने में समर्थ हुआ हूँ ।

हे सकलदुःखविनाशक, परम पवित्र परमेश्वर ! आप ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वृक्ष, वनस्पति, फल, फूल आदि विविध साधनों को बनाकर, वेदज्ञान प्रदान करके तथा आत्मा में संकेत करके, निरन्तर मेरे दुःखों का निवारण करते हैं ।

हे सर्व व्यापक, निराकार, परमसुखदायक प्रभो ! आप ही सब उपासकों को ज्ञान, बल, निर्भयता, सन्तोष, शान्ति प्रदान करके उन्हें परमानन्द को प्राप्त कराने वाले हैं ।

हे सर्वजगत् उत्पादक सवितादेव ! आप ही सब जीवों के शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि के निर्माता हैं । आपने ही इस संसार को तथा इसमें स्थित असंख्य पदार्थों को बनाया है ।

हे सर्वोत्कृष्ट, परम ऐश्वर्यवान् वरेण्य भगवन् ! ज्ञान, बल, आनन्द, दया, परोपकार, निष्कामता, न्याय आदि गुणों में आप सर्वश्रेष्ठ हैं । आपसे बढ़कर इन गुणों में और कोई श्रेष्ठ नहीं है ।

हे क्लेशविनाशक विज्ञानस्वरूप, भर्ग परमेश्वर ! आप अविद्या, अधर्म, अन्याय, पक्षपात, दुःख आदि समस्त दोषों से रहित पवित्र स्वरूप हैं, और आप ही मेरे दुःखों व पापों के मूल कारण अविद्या

आदि दोषों को नष्ट करके मुझे पवित्र बनाने समर्थ हैं ।

हे दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव के प्रदाता महादेव ! आप ही मुझे उत्कृष्ट विज्ञान, व्यवहार-कुशलता, चातुर्य, पुरुषार्थ, धैर्य आदि गुणों को प्रदान करके परमानन्द को प्राप्त कराने वाले हैं ।

हे सच्चिदानन्द स्वरूप भगवत् ! मैं योगाभ्यास की रीति से आपको अपनी आत्मा में धारण करता हूँ । आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करें कि मैं सदा आपकी आज्ञाओं का पालन करूँ । आपको सर्वत्र विद्यमान जानकर आपकी अनुभूति मन में बनाये रखूँ । आप मुझे देख रहे हैं, सुन रहे हैं, जान रहे हैं, ऐसा मानकर ही सम्पूर्ण कार्यों को करूँ । आप द्वारा मन में किये जाने वाले प्रत्येक संकेत को ध्यान में रखकर तदनुसार ही मैं आचरण करूँ ।

हे परम दयालु इष्ट देव ! मेरे अज्ञान जनित कुसंस्कारों को मिटाकर उनके स्थान पर सत्य ज्ञान के सुसंस्कारों को बनाईये । मैं नित्य प्रति शुभ कर्मों को निष्काम भावना से करता रहूँ, ऐसी मेरी बुद्धि बनाईये । हे दयानिधान परम सहायक ! मुझ को आप पर ही सब प्रकार का भरोसा है, सो आप शीघ्र ही मेरी इस प्रार्थना को पूरी करेंगे ।

॥ अथ समर्पणम् ॥

हे ईश्वर दयानिधे भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ॥

हे ईश्वर - हे ईश्वर !
दयानिधे - दया के सागर
भवत्कृपया - आपकी कृपा से
अनेन - इस
जपोपासनादिकर्मणा -जप, उपासना आदि कर्म के द्वारा
धर्मार्थकाममोक्षाणाम् - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को
सद्यः - शीघ्र
सिद्धिः - प्राप्ति
भवेत् - होवे
नः - हमें ।

हे दया के सागर सर्वस्वामिन् ईश्वर ! आपकी आज्ञा के अनुसार ही मैं अपने तन, मन, धन आदि समस्त पदार्थों को तथा समस्त उत्तम कर्मों को आपके समर्पित करता हूँ । बस, अब तो मैं आपके समर्पित हो गया हूँ । मेरे हृदय में आप, जैसी आज्ञा करेंगे, वैसा ही बोलूँगा, वैसा ही लिखूँगा, वैसा ही करूँगा, इसके विपरीत कभी नहीं करूँगा । किन्तु भगवन् ! आपसें मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप मुझे, धर्म- जो सत्य व न्याय का आचरण है, अर्थ- जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम- जो धर्म और अर्थ से इष्ट पदार्थों का सेवन करना है और मोक्ष- जो सब दुःखो से छूटकर पूर्ण आनन्द में रहना है, इन चार पदार्थों की प्राप्ति शीघ्र कराईये ।

॥ नमस्कारमन्त्रः ॥

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च । यजु० १६/ ४१ ॥

नमः - नमस्कार हो
शम्भवाय - सुखस्वरूप ईश्वर के लिए
च - और
मयोभवाय - सब सुखों को देने वाले के लिए
च - और
नमः - नमस्कार हो

शङ्कराय	- धर्मयुक्त कर्मों को करनेवाले के लिए	शिवाय	- अत्यन्त मंगलस्वरूप ईश्वर के लिए
च	- और	च	- और
मयस्कराय	- धर्मयुक्त कर्मों में नियुक्त करनेवाले के लिए	शिवतराय	- मोक्ष सुख प्रदाता के लिए
च	- और	च	- और ॥
नमः	- नमस्कार हो		

हे सुखस्वरूप, आनन्ददाता परमेश्वर ! आप शंभव हो । आपको मेरा नमस्कार है । आप कृपा करके मुझे भी अपने दिव्य आनन्द की अनुभूति कराओ । हे सांसारिक सुखों को देने वाले- मयोभव ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । हे जीवों के कल्याणकर्ता शंकर ! आप मयस्कर हो, आप ही हम जीवों को धर्मयुक्त उत्तम कार्यों में प्रेरित करो । हे मंगलस्वरूप ईश्वर ! आप शिव हो, आप ही हमारे समस्त दुःखों को नष्ट करके मुक्ति सुख को प्रदान करने वाले हो । आप निश्चय से मुझ उपासक का सब प्रकार से कल्याण करो, इसी हेतु मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ ।

योग के आठ अङ्ग

(नाम, परिभाषा एवं फल)

योग के आठ अङ्ग निम्न हैं -

१. यम ४. प्रत्याहार
२. नियम ६. धारणा
३. आसन ७. ध्यान
४. प्राणायाम ८. समाधि

योग का जो प्रथम अङ्ग यम है, उसके भी पांच विभाग है -

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय
४. ब्रह्मचर्य ४. अपरिग्रह ।

यम के पाँच विभागों की परिभाषाएँ-

१. (अहिंसा)- शरीर, वाणी, तथा मन से सब काल में समस्त प्राणियों के साथ वैर भाव (द्वेष) छोड़कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करना 'अहिंसा' कहलती है ।

२. (सत्य)- जैसा देखा हुआ, सुना हुआ, पढ़ा हुआ व अनुमान किया हुआ ज्ञान मन में है, वैसा ही वाणी से बोलना और शरीर से आचरण में लाना 'सत्य' कहलाता है ।

३. (अस्तेय)- किसी वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना उस वस्तु को न तो शरीर से लेना, न लेने के लिये किसी को वाणी से कहना और न ही मन में लेने की इच्छा करना 'अस्तेय' कहलाता है ।

४. (ब्रह्मचर्य)- मन तथा इन्द्रियों पर संयम करके वीर्य आदि शारीरिक शक्तियों की रक्षा करना, वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ना तथा ईश्वर की उपासना करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है ।

५. (अपरिग्रह)- हानिकारक एवं अनावश्यक वस्तुओं का तथा हानिकारक एवं अनावश्यक विचारों का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है ।

योग का जो द्वितीय अङ्ग 'नियम' है, उसके भी पांच विभाग हैं-

१. शौच २. संतोष, ३. तप,
४. स्वाध्याय ५. ईश्वर-प्रणिधान ।

'नियम' के पाँच विभागों की परिभाषाएँ-

१. (शौच (शुद्धि))- शुद्धि दो प्रकार की होती है - पहली ब्राह्म शुद्धि और दूसरी आन्तरिक शुद्धि । शरीर वस्त्र, पात्र, स्थान, खानपान तथा धनोपार्जन को पवित्र रखना 'बाह्म शुद्धि' है तथा विद्या, सत्संग, स्वाध्याय, सत्य भाषण व धर्माचरण से मन-बुद्धि आदि अन्तः करण को पवित्र करना 'आंतरिक शुद्धि' कहलाती है ।

२. (संतोष)- अपने पास विद्यमान ज्ञान, बल तथा साधनों से पूर्ण पुरुषार्थ करने के पश्चात जितना भी आनन्द, विद्या, बल, धनादि

फल रूप में प्राप्त हो, उतने से ही संतुष्ट रहना, उससे अधिक की इच्छा न करना 'संतोष' कहलाती है ।

३. **तप**- धर्माचरण रूप उत्तम कर्तव्य, कर्मों को करते हुये भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, हानि-लाभ, मान-अपमान, आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना 'तप' कहलाता है ।

४. **स्वाध्याय**- मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ना, ओ३म् आदि पवित्र मन्त्रों का जप करना तथा आत्मचिंतन करना स्वाध्याय कहलाता है ।

५. **ईश्वर प्रणिधान**- शरीर, बुद्धि, बल, विद्या, धनादि समस्त साधनों को ईश्वर प्रदत्त मानकर, उनका प्रयोग मन, वाणी तथा शरीर से ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही करना, लौकिक उद्देश्य= धन, मान, यशादि की प्राप्ति के लिए न करना 'ईश्वर प्रणिधान' कहलाता है । ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है, यह भावना भी मन में बनाये रखना, 'ईश्वर प्रणिधान' है ।

अब योग से शेष ६ अङ्गों की परिभाषा बतायी जाती है-

३. **आसन**- ईश्वर के ध्यान के लिये जिस स्थिति में सुखपूर्वक, स्थिर होकर बैठा जाय, उस स्थिति का नाम आसन है । जैसे पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन आदि ।

४. **प्राणायाम**- किसी आसन पर स्थिरतापूर्वक बैठने के पश्चात् मन की चंचलता को रोकने के लिये, श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने स्वरूप जो क्रिया की जाती है, उस क्रिया का नाम 'प्राणायाम' है ।

५. (प्रत्याहार)- मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने-अपने रूपादि विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् इन्द्रियाँ शान्त होकर अपना कार्य बन्द कर देती है, इस स्थिति का नाम 'प्रत्याहार' है ।

६. (धारणा)- ईश्वर का ध्यान करने के लिये आंख बन्द करके मन को मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका, कण्ठ, हृदय, आदि किसी एक स्थान पर स्थित करने या रोकने का नाम 'धारणा' है ।

७. (ध्यान)- किसी एक स्थान पर मन को स्थिर करने के पश्चात् वेदमंत्र या अन्य शब्दों के माध्यम से, ईश्वर को प्राप्त करने =(जानने), अनुभव करने के लिये, ईश्वर के गुण-कर्म स्वभाव का निरन्तर चिंतन करना, किन्तु बीच में किसी अन्य वस्तु या विषय का स्मरण न करना 'ध्यान' कहलाता है ।

८. (समाधि)- 'शब्द प्रमाण' तथा 'अनुमान प्रमाण' के माध्यम से ईश्वर के गुण-कर्म स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करते रहने पर जब ईश्वर का 'प्रत्यक्ष' होता है अर्थात् ईश्वर के आनन्द में साधक निमग्न हो जाता है, तब उस अवस्था को 'समाधि' कहते है ।

योग के आठ अङ्गों का फल

अब क्रमशः यम-नियम आदि योग के आठ अङ्ग का फल क्या होता है, यह लिखते हैं :-

प्रथम यमों का फल लिखते हैं-

१. (अहिंसा)- अहिंसा धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति के मन से समस्त प्राणियों के प्रति वैर भाव (द्वेष) छूट जाता है, तथा उस अहिंसक के सत्सङ्ग एवं उपदेशानुसार आचरण करने से अन्य व्यक्तियों का भी अपनी अपनी योग्यतानुसार वैर-भाव छूट जाता है ।

२. (सत्य)- जब मनुष्य निश्चय करके मन, वाणी तथा शरीर से सत्य को ही मानता, बोलता तथा करता है तो वह जिन-जिन उत्तम कार्यों को करना चाहता है, वे सब सफल होते हैं ।

३. (अस्तेय)- मन, वाणी तथा शरीर से चोरी छोड़ देने वाला व्यक्ति, अन्य व्यक्तियों का विश्वासपात्र और श्रद्धेय बन जाता है । ऐसे व्यक्ति को आध्यात्मिक एवं भौतिक उत्तम गुणों व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है ।

४. (ब्रह्मचर्य)- मन, वचन तथा शरीर से संयम करके, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले व्यक्ति को, शारीरिक तथा बौद्धिक बल की प्राप्ति होती है ।

५. (अपरिग्रह)- अपरिग्रह धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति में आत्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, अर्थात् उसके मन में "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, मुझे क्या करना चाहिये, मेरा क्या सामर्थ्य है" इत्यादि प्रश्न उत्पन्न होते है ।

अब नियमों का फल लिखते हैं-

१. **शौच** - बार-बार शुद्धि करने पर भी जब साधक व्यक्ति को अपना शरीर गंदा ही प्रतीत होता है तो उसकी अपने शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रहती और वह दूसरे व्यक्ति के शरीर के साथ अपने शरीर का सम्पर्क नहीं करता। आन्तरिक शुद्धि से साधना की बुद्धि बढ़ती है, मन एकाग्र तथा प्रसन्न रहता है, इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है तथा वह आत्मा-परमात्मा को जानने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है।

२. **संतोष** - संतोष को धारण करने पर व्यक्ति की विषय भोगों को भोगने की इच्छा नष्ट हो जाती है और उसको शांति रूपी विशेष सुख की अनुभूति होती है।

३. **तप** - तपस्या का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति का शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ, बलवान तथा दृढ़ हो जाती हैं तथा वे उस तपस्वी के अधिकार में आ जाती हैं।

४. **स्वाध्याय** - स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति की आध्यात्मिक पथ पर चलने की श्रद्धा, रुचि बढ़ती है तथा वह ईश्वर के गुण, कर्म, स्वाभावों को अच्छी प्रकार जानकर उसके साथ सम्बन्ध भी जोड़ लेता है।

५. **ईश्वर-प्राणिधान** - ईश्वर को अपने अन्दर-बाहर उपस्थित मानकर तथा ईश्वर मेरे को देख, सुन, जान रहा है, ऐसा समझने वाले व्यक्ति की समाधि शीघ्र ही लग जाती है।

अब योग के शेष छे अङ्गों का फल लिखते हैं-

३. (आसन)- आसन का अच्छा अभ्यास हो जाने पर योगाभ्यासी को उपासना काल में तथा व्यवहार काल में सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व कम सताते हैं, तथा योगाभ्यास की आगे की क्रियाओं को करने में सरलता होती है।

४. (प्राणायाम)- प्राणायाम करने वाले व्यक्ति का अज्ञान निरन्तर नष्ट होता जाता है तथा ज्ञान की वृद्धि होती है। स्मृति-शक्ति तथा मन की एकाग्रता में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है। वह रोग-रहित होकर उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त होता है।

५. (प्रत्याहार)- प्रत्याहार की सिद्धि होने से योगाभ्यासी का इन्द्रियों पर अच्छा नियंत्रण हो जाता है अर्थात् वह अपने मन को जहां और जिस विषय में लगाना चाहता है, लगा लेता है तथा जिस विषय से मन को हटाना चाहता है, हटा लेता है।

६. (धारणा)- मन को एक ही स्थान पर स्थिर करने के अभ्यास से तथा ईश्वर विषयक गुण-कर्म स्वभावों का चिन्तन करने से (ध्यान में) दृढ़ता आती है, अर्थात् ईश्वर विषयक ध्यान शीघ्र नहीं टूटता। यदि टूट भी जाय तो दोबारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

७. (ध्यान)- ध्यान का निरंतर अभ्यास करते रहने से समाधि की प्राप्ति होती है तथा उपासक, व्यवहार सम्बन्धी समस्त कार्यों को दृढ़तापूर्वक, सरलता से सम्पन्न कर लेता है।

८. **समाधि**- समाधि का फल है ईश्वर का साक्षात्कार होना। समाधि अवस्था में साधक समस्त भय, चिन्ता, बन्धन आदि दुःखों से छूटकर ईश्वर के आनन्द की अनुभूति करता है तथा ईश्वर से समाधि काल में ज्ञान, बल, उत्साह, निर्भयता, स्वतन्त्रता आदि की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार बारम्बार समाधि लगाकर अपने मन पर जन्म जन्मान्तर के राग-द्वेष आदि अविद्या के संस्कारों को दग्धबीजभाव अवस्था में पहुंचाकर (नष्ट करके) मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है।

योगाभ्यास के काल में नींद अथवा आलस्य आने के कारण

ध्यान के समय में नींद को या आलस्य को रोकना आवश्यक होता है। अनेक साधकों को तो यह पता भी नहीं चलता कि वे ध्यान करते हुए सो जाते है। अनेकों को पता चल जाता है, किन्तु उपासना काल में नींद या आलस्य क्यों आता है, वे कारणों को ठीक-ठीक जान नहीं पाते हैं। नींद तथा आलस्य आने के कुछ कारणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

१. रात्री में नींद पूरी नहीं होना या अच्छी न होना।
२. पेट की शुद्धि न होना - (शौच खुलकर न आना)।
३. शारीरिक परिश्रम या व्यायाम अधिक मात्रा में करना।
४. भोजन प्रतिकूल, गरिष्ठ (= भारी), अधिक मात्रा में खाना।
५. तामसिक या नशीली वस्तु (= तम्बाकू, भांग आदि) का प्रयोग करना।
६. शरीर में ज्वरादि रोग का होना।

७. शरीर में निर्बलता का होना ।
८. आसन ठीक प्रकार से नहीं लगाना (=कमर सीधी करके न बैठना) ।
९. उपासना से पूर्व स्नान करके न बैठना ।
१०. उचित मात्रा में व्यायाम, भम्रण, आसन आदि न करना ।
११. ठण्ड के दिनों में रजाई आदि गर्मी देने वाले वस्त्रों को अधिक मात्रा में धारण करना (ओढ़कर बैठना) ।
१२. मानसिक परिश्रम अध्ययन-चिन्तन आदि अधिक करना ।
१३. आलसी व्यक्तियों के साथ बैठना ।
१४. सन्ध्या के मन्त्रों का शब्दार्थ न जानना ।
१५. उचित मात्रा मे प्राणायाम न करना ।
१६. ईश्वर के प्रति प्रेम, श्रद्धा, रुचि का न होता ।
१७. योगाभ्यास के महत्व या लाभ को न समझना ।

साधक लोगों को देखना चाहिए कि उपर्युक्त कारणों में से कौन सा कारण मुझ पर लागू होता है । उसे जानकर दूर करना चाहिए । जिससे योगाभ्यास में सफलता मिले ।

सच्चे योगी के लक्षण

(१) जो सम्पूर्ण दिन ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाये रखता हो ।
(२) समस्त संसार का (अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि सहित) निर्माता, पालक, रक्षक ईश्वर को मानता हो ।
(३) वेद तथा वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों पर अत्यन्त श्रद्धा रखता हो ।
(४) ईश्वर-जीव-प्रकृति (त्रैतवाद) के स्वरुप को यथार्थ रुप में जानता हो ।
(५) संसार के विषय भोगों में चार प्रकार का दुःख अनुभव करता हो ।

(६) विषय भोगों में सुख नहीं लेता हो और जिसका अपने मन इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो ।

(७) ईश्वर प्रदत्त साधनों का ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल (धर्म पूर्वक) साधक के रूप में, उचित मात्रा में उपयोग करता हो ।

(८) फल की आशा से रहित (तीन एषणाओं से रहित) निष्काम भावना से कर्मों को करता हो ।

(९) इच्छा का विघात, वियोग, अपमान, विश्वासघात, असफलता, अवसर चूकना इत्यादि स्थितियों में चिन्तित, भयभीत, क्षोभयुक्त, दुःखी न होता (रहता) हो ।

(१०) समस्त संसार को ईश्वर में डूबा हुआ देखता हो ।

(११) दैनिक क्रिया-व्यवहारों में (विचारना, बोलना, लेना-देना, समझना-समझाना आदि में) अत्यन्त सावधान रहता हो ।

(१२) जो आध्यात्मिक अविद्या (अनित्याशुचि आदि) से रहित हो और विद्या से युक्त हो ।

(१३) जो समस्त अविद्याजनित संस्कारो को दबाये रखने में समर्थ हो ।

(१४) यमों का पालन सार्वभौम महाव्रत् के रूप में करता हो, चाहे मृत्यु भी क्यों न आ जाये ।

(१५) जो हर समय प्रसन्न, सन्तुष्ट, निर्भय, उत्साही, पुरुषार्थी आशावादी रहता हो ।

(१६) शरीर, बल, विद्या आदि उपलब्धियों का एषणाओं के लिये प्रदर्शन न करता हो ।

(१७) किसी के द्वारा बताये जाने पर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण तत्काल करता हो ।

(१८) धन, बल, कीर्ति आदि की प्राप्ति के प्रलोभन में आदर्शों का त्याग या उनके साथ समझौता कदापि न करता हो ।

(१९) शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना इन तीनों का समायोजन

करके चलता हो ।

(२०) गंभीर, मौनी, एकान्त सेवी, संयमी, तपस्वी हो (विशेषकर प्रारम्भिक काल के लिये) ।

(२१) देश, जाति, प्रान्त, भाषा, मत, पन्थ, रूप-रंग, लिंग आदि भेद-भावों से रहित सब से प्रेम करने वाला सब का हितैषी, दयालु, कल्याण करने वाला हो ।

(२२) योग दर्शन, उपनिषद् वा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थो में आये हुए सत्य सिद्धान्तों को ठीक समझकर उनका आचरण करने वाला हो ।

मन का नियन्त्रण

मन के विषय में प्राय: व्यक्ति ऐसा कहते है कि "मेरा मन तो रुकता ही नहीं है, मन में खूब विचार आते है और जितना मैं इन्हें रोकने का प्रयत्न करता हूँ उतने ही अधिक विचार आते हैं" इत्यादि । किन्तु ये सब मान्यतायें मिथ्या हैं । वास्तविकता यह है कि मन, जड़ प्रकृति से बनी हुई एक जड़ वस्तु है, यह चेतन नहीं है । इसलिये इस मन में अपने आप कोई विचार नहीं आता, और न ही यह स्वयं किसी विचार को उठाता है । इस जड़ मन को चलाने वाला चेतन जीवात्मा है । जब जीवात्मा अपनी इच्छा से किसी अच्छे या बुरे विचार को मन में उठाना चाहता है, तब ही उस विषय से सम्बन्धित विचार मन में उत्पन्न होता है ।

जैसे टेप (TAPE)में अनेक प्रकार की ध्वनियों का संग्रह होता है । ऐसे ही मन में भी अनेक प्रकार के विचार संस्कारों के रूप में संग्रहीत रहते हैं । जब व्यक्ति अपनी इच्छा व प्रयत्न से टेप को चलाता है तो ध्वनियाँ सुनाई देने लगती है, अपने आप ध्वनियां सुनाई नहीं

देती। इसी प्रकार से जब जीवात्मा मन में संग्रहीत संस्कारों को अपनी इच्छा व प्रयत्न से उठाता है तभी मन में विचार उत्पन्न होते हैं। यह मन के कार्य करने की एक पद्धति हुई।

इसके अतिरिक्त मन का कार्य एक कैमरा यंत्र के समान भी समझना चाहिए। जैसे फोटोग्राफर अपनी इच्छा से जिस वस्तु का चित्र उतारना चाहता है, उस वस्तु का चित्र शीशे (LENSE) के माध्यम से कैमरे का बटन दबाकर रील में उतार लेता है। और जिस वस्तु का चित्र उतारना नहीं चाहता, उसका चित्र नहीं उतारता है। ठीक इसी प्रकार से जीवात्मा जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उस वस्तु का ज्ञान मन में, शरीर तथा इन्द्रियों के माध्यम से संग्रहीत कर लेता है। इस दृष्टान्त में शरीर कैमरे के समान है, फोटोग्राफर चेतन जीवात्मा है, मन रील है, जिस पर चित्र उतरते हैं, तथा इन्द्रियां शीशा (LENSE) के समान है। इसी प्रकार से जैसे स्कूटर, कार, पंखा, मशीन आदि जड़ यंत्र बिना चेतन मनुष्य के चलाये अपने आप नहीं चलते हैं न रुकते हैं, ठीक वैसे ही बिना जीवात्मा की इच्छा तथा प्रेरणा के जड़ मन किसी भी विषय की ओर न अपने आप जाता है, न उसका विचार करता है।

अज्ञान के कारण ही, चेतन जीवात्मा स्वयं को मन का-चालक न मानकर, मन को ही विषयों का उठाने वाला (उनका विचार करने वाला) मान लेता है। जब जीवात्मा को अपनी चेतनता और कर्तापन का तथा मन की जड़ता व साधनपन का ज्ञान हो जाता है, तब वह मन को अपने अधिकार में रखकर इसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है। विद्वान योगी व्यक्ति का ज्ञान ठीक होने के कारण वह अपने मन को अधिकार पूर्वक अपनी इच्छा अनुसार, ठीक वैसे ही चलाता है जैसे लौकिक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अधिकारपूर्वक-स्कूटर को चलाता है।

जैसे कोई नया स्कूटर चलाने वाला यह कहे कि 'मेरा स्कूटर तो बहुत तेज चलता है, मैं इसे रोकना चाहता हूँ, पर यह तो रुकता ही नहीं है, मैं बायें चलाना चाहता हूँ किन्तु यह दायें जाता है, मैं इसे सड़क पर चलाना चाहता हूँ, पर यह तो सड़क से नीचे चला जाता है' ऐसी स्थिति में हम यही कहेंगे कि इस व्यक्ति को स्कूटर चलाना नहीं आता, और इसको अभ्यास भी नहीं है । यहाँ विचारने की बात यह है कि क्या स्कूटर अपने आप चलता या रुकता है ? अपने आप दायें या बायें जाता है ? नहीं, यह तो चलाने वाले की ही कमी है । ठीक ऐसे ही मन के विषय में भी समझना चाहिए कि जड़ मन अपने किसी विषय की ओर नहीं जाता, जैसे स्कूटर अपने आप सड़क से नीचे नहीं जाता ।

योगाभ्यासी को चाहिये कि उपासना काल में आसन पर बैठते ही मन में यह निश्चय करे कि "मेरा मन जड़ है, इसको चलाने वाला मैं चेतन जीवात्मा हूँ । मेरी इच्छा तथा प्रयत्न के बिना यह जड़ मन किसी भी विषय को नहीं उठाता । इस समय मैं इसे अपने अधिकार में रखकर ईश्वर के चिंतन में ही लगाऊंगा" अन्य सांसारिक विषयों में नहीं लगाऊंगा ऐसा निश्चय करने से मन के नियंत्रण में सहायता मिलती है । परन्तु ऐसा संकल्प करने के पश्चात् भी ध्यान के समय योगाभ्यासी असावधानी व अज्ञान से मन को अन्य विषय की ओर लगा देवे, तो तत्काल वहाँ से हटाकर, पुनः ईश्वर में लगा देना चाहिए । प्रारंभिक काल में योगाभ्यासी को अन्य विषयों में लगाये हुए मन को प्रयत्न पूर्वक हटाकर बार-बार ईश्वर में लगाना पड़ता है । कालान्तर में जब मन विषयक ज्ञान तथा अभ्यास अच्छा हो जाता है तो व्यक्ति का मन के ऊपर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है और वह जिस विषय से मन को हटाना चाहे, सरलता से हटा सकता है और जिस विषय पर लगाना चाहे लगा सकता है ।

ऋषियों का संदेश

(१) विषयों को भोगकर, इन्द्रियों की तृष्णा को समाप्त करनेवाली तुम्हारा विचार ऐसा ही है, कि आग को बुझाने के लिए उसमें घी डालना ।

(२) यह मानना तुम्हारा सबसे बड़ा अज्ञान है कि "मैं कभी मरुँगा नहीं, "यह शरीर बहुत पवित्र है", "विषय भोगों में पूर्ण और स्थायी सुख है", तथा यह देह ही आत्मा है ।

(३) तुम्हारे मन में अच्छे या बुरे विचार अपने आप नहीं आते । इन विचारों को तुम अपनी इच्छा से ही उत्पन्न करते हो, क्योंकि मन तो यन्त्र के समान जड़ वस्तु है, उसका चालक आत्मा है ।

(४) किसी के अच्छे या बुरे कर्म का फल तत्काल प्राप्त होता न देख कर तुम यह मत विचारो कि इन कर्मों का फल आगे नहीं मिलेगा । कर्म - फल से कोई भी बच नहीं सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा न्यायकारी है ।

(५) संसार (= प्रकृति), संसार को भोगनेवाला (= जीव) तथा संसार को बनाने वाले (= ईश्वर) के वास्तविक स्वरूप को जानकर ही तुम्हारे समस्त दुःख, भय, चिन्ताएँ समाप्त हो सकती हैं और कोई उपाय नहीं है ।

(६) "मनुष्य जीवन ईश्वर प्राप्ति के लिए मिला है", इस मुख्य लक्ष्य को छोड़कर अन्य किसी भी कार्य को प्राथमिकता मत दो, नहीं तो तुम्हारा जीवन चन्दन के वन कोयला बनाकर नष्ट करने के समान है ।

(७) तुम्हारे जीवन की सफलता तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अविद्या के कुसंस्कारों को नष्ट करने में ही है । यही समस्त दुःखों से छूटने का श्रेष्ठ उपाय है ।

(८) जब तक तुम संसार के सुखों के पीछे छीपे हुए दुःखों को समझ नहीं लोगे, तब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा। बिना वैराग्य के चंचल मन एकाग्र नहीं होगा, एकाग्रता के बिना समाधि नहीं लगेगी, समाधि के बिना ईश्वर का दर्शन नहीं होगा, बिना ईश्वर-दर्शन के अज्ञान का नाश नहीं होगा और अज्ञान का नाश हुए बिना दुःखों की समाप्ति और पूर्ण तथा स्थायी सुख (= मुक्ति) की प्राप्ति नहीं होगी।

(९) तुम इस सत्य को समझ लो कि अज्ञानी मनुष्य ही जड़ वस्तुओं (= भूमि, भवन, सोना, चांदी) तथा चेतन वस्तुओं (= पति, पत्नी, पुत्र, मित्र, आदि) को अपनी आत्मा का एक भाग मानकर, इनकी वृद्धि होने पर प्रसन्न तथा हानि होने पर दुःखी होता है।

(१०) तुम्हारे लोहेरूपी मन को, विषय भोगरूपी चुम्बक सदा अपनी और खींचते रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य विषय भोगों से होने वाली हानियों का अनुमान लगाकर इनमें आसक्त नहीं होते, किन्तु अज्ञानी मनुष्य इनमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं।

(११) महान् ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुणों का भण्डार, ईश्वर चेतन वस्तु है, जो अनादिकाल से तुम्हारे साथ है, न कभी वह अलग हुआ, न कभी होगा। उसी संसार के बनानेवाले पालन करनेवाले, सबके रक्षक, निराकार ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपालना तुम सब मनुष्यों को सदा करनी चाहिए।
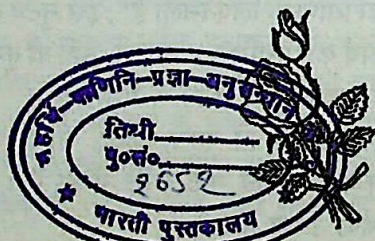
✻ मुख्य वितरक ✻

आर्य रणसिंह यादव

द्वारा-डॉ. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्'

पो. गांधीग्राम, जूनागढ (गुजरात) ३६२००१.